

प्रकाशक :—

सूत्री, आत्म-जागृति कार्यालय,
जैन-गुरुकुल, व्यावर

प्रथमावृत्ति, प्रतियाँ १०००

मूल्य दस आना]

१६४२

[वि० सं० १६६८]

अनुक :—

रामस्वरूप मिश्र, मैने
मनोहर प्रिण्टिङ्ग वर्कस व्यावर

मस्तकधन्व

भारतीय दर्शन-शास्त्रों में जैन दर्शन का स्थान अति महत्व का है और उसका प्रभाव कारण उगकी मौलिकता, व्यापकता और विशदता है। जगत् के समस्त भगवों और भक्तों का निपटारा करने के लिये जैन-दर्शन ने जो अपूर्व चीज जगत् की सेवा में समर्पित की है वह स्याद्वाद है और यह जैनदर्शन की मौलिकता है। स्याद्वाद ही जैन नीति का मूलमन्त्र है और उसका निर्माण प्रमाण और नय, इन दो तत्त्वों की भिति पर ही दृष्टा है क्योंकि जैन दर्शन के ये ही प्राणभूततत्त्व हैं।

ग्रन्थ का महत्त्व

न्याय-शास्त्र के विशाल मन्दिर में प्रवेश करने के लिये प्रत्येक मार्गिक भी देवगुरि ने भी माणिक्यनन्दि के 'परीक्षा ग्रन्थ' ग्रंथ की शैली पर प्राणुत पुस्तक की रचना करके प्रथम सोपान बना देने का काम किया है।

'प्रमाणनयैरधिगतः'—यह बात अनुभवगम्य होने पर भी प्रमाण और नय क्या है ? उनके स्वरूप-वर्ग-विषय-पक्ष आदि क्या हैं ? उसका विशेष परिचय प्राप्त करना अनिवार्य है। हमलिये प्राणुत पुस्तक में प्रमाण और नय इन दो तत्त्वों पर ही सुन्दर ढंग से बाष्पी प्रकाश डाला गया है। यही कारण है कि प्राणुत पुस्तक लोकप्रिय होने पर भी सुन्दर और गारगर्भित है। न्याय-शास्त्र के गानक को प्राणुत पुस्तक स्पी गानक में भर देने का जो बौद्ध गुरिजी ने बताया है वह वास्तव में प्रशंसनीय है। जैन स्याद को अच्छी तरह समझने के लिये इसे बुझी कटा आ सकता है।

दिया है। इसके अनिश्चित उन्होंने और भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इस प्रकार श्री देवसूरी धर्मोपदेश, ग्रन्थ-रचना, बाद-विवाद आदि प्रशंसियों द्वारा जिनरामन समुज्ज्वल कहते हुये वि० सं० १००६ में भद्रेश्वर सूरी को गच्छद्भार सौंप कर आद्यतन कृष्ण सप्तमी के दिन ऐदिक जीवनलीला समाप्त कर स्वर्गधाम की प्राप्त हुये।

इस ग्रन्थ की टीकाएँ और अनुवाद

इस ग्रन्थ की उपयोगिता और उपदेश्यता इसी से सिद्ध हो जाती है कि मूढ़ ग्रंथकार ने ही इस ग्रन्थ के अर्थगर्भीय को परिष्कृत करने के लिये ८५ हजार श्लोक-परिमाण में 'न्यायाद्वैतसार' नामक बृहद् ग्रन्थ रच की रचना की है और उन्हीं के शिष्य रत्न भी रत्ननिहारी ने 'रत्नाकरावतारिका' नामक सुन्दर सुसलित न्याय-ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ वर्तमान में 'न्यायनीति' की परीक्षा में नियत किया गया है।

न्यायाद्वैतसार को अनि विस्तृत होने के कारण इसका अनुवाद होना बहिनमा है लेकिन रत्नाकरावतारिका का तो परिद्वतजी जैसे नैययिक द्वारा महा मुषोष राष्ट्रीय भाषा में विवेचन और प्रामाणिक अनुवादन करा कर प्रसिद्धि में लाना नितान्त आवश्यक है। जैसे प्रेरणाप्रद प्रकाशन के द्वारा ही ग्रन्थ-औरख बढ़ सकता है, न्याय-ग्रन्थ बढ़ने की अनिवार्य बढ़ सकती है और जन-समूह जैन-दर्शन की सृष्टि में परिचित हो सकता है।

ग्रन्थ की उपयोगिता और प्रस्तुत संस्करण

प्रस्तुत ग्रन्थ की उपयोगिता को लक्ष्य में लेकर बालरत्ना-संस्कृत-एगोमिनेशन ने जैन-न्याय की प्रथम प्रतीति दिया है। प्रतिवर्ष अनेक छात्र जैन न्याय

दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का पठन-पाठन जैन-समाज में काफी होता है किन्तु ऐसी उपयोगी पुस्तक का जन-साधारण भी लाभ उठा सके और विषय जटिलता के कारण छात्र जो परेशानी अनुभव कर रहे वह दूर की जा सके, इस और अभी तक किसी का ध्यान न गया था। इस अभाव की पूर्ति आज की जा रही है और वह ऐसे प्रौढ़ परिदृष्टि के द्वारा जिन्होंने सैकड़ों की तादाद में छात्रों को न्याय-शास्त्र पढ़ाया है और 'न्यायतीर्थ' भी बना दिया है।

इस सरल सुबोध विवेचन और अनुवाद द्वारा छात्रों की बहुतसी परेशानी कम हो जायगी और जो न्याय-शास्त्र को जटिल समझ कर न्याय शास्त्र से दूर भागते हैं उन्हें यह अनुवाद प्रथम पथ-प्रदर्शन करेगा। इसके अतिरिक्त जो संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ हैं वे भी प्रस्तुत पुस्तक के आधार पर न्यायशास्त्र में प्रवेश कर सकेंगे।

ग्रन्थ का सम्पादन, विवेचन और अनुवादन कितनी सावधानी पूर्वक हुआ है यह तो पुस्तक के पठन-पाठन से ज्ञान हो ही जायगा। जैन न्याय के पारिभाषिक शब्दों की विशद व्याख्या इस पुस्तक में की गई है तथा छात्रों की शंकाओं का सम्पूर्ण समाधान करने का प्रयास किया गया है—यह इसकी विशेषता है जो छात्रों के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रस्तुत न्याय-ग्रन्थ का ऐसा सुन्दर छात्रोपयोगी संस्करण निकालने के लिये अनुवादक और प्रकाशक दोनों धन्यवादार्ह हैं।

ग्रन्थ की उपदेयता पाठ्यक्रम में अपना स्थान अवश्य प्राप्त कर लेगी ऐसी शुभाशा है। सुशेष किं बहुना।

ता० १-१-४२ ई०
व्यावर }

—शान्तिलाल बनमाली शेट

प्रासंगिक

—१६०—

प्रमाण-नय-तत्त्वशालोक, न्यायशास्त्र का प्रवेश-ग्रन्थ है। इसे विभिन्न अध्ययन करने के पक्षान् ही न्यायशास्त्र में आगे बढ़ाया जा सकता है। यही कारण है कि प्रायः सभी शैक्षणिक परीक्षाओं के पाठ्यक्रमों में यह नियुक्त किया गया है।

— इस प्रकार पर्याप्त पठन-पाठन होने पर भी अब तक हिन्दी भाषा में इसका अनुवाद नहीं हुआ था। इसमें छात्रों को तथा अन्य न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओं को बड़ी अध्ययन पड़ती थी। यही अध्ययन दूर करने के लिए यह प्रयास किया गया है। अनुवाद में सरलता और संक्षेप का ध्यान रखा गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ को पढ़ने वाले विद्यार्थियों के सामने रखकर उनमें 'पाम' करा लिया गया है।

न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक अध्यागियों को इसमें बहुत कुछ सहायता मिलेगी, ऐसी आशा है। विद्वान् अध्यापकों में यह अनुरोध है कि वे इसकी छुटियाँ दिखाने की कृपा करें, ताकि आगामी संस्करण अधिक उपयोगी और विस्तृत हो सके।

—शोभाचन्द्र भारद्वाज

प्रमाण-नय-तत्त्वकालोक

के

विषयानुक्रम



- १—प्रथम परिच्छेद—प्रमाण का स्वरूप ... पृ० १
- २—द्वितीय परिच्छेद—प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद ... पृ० १४
- ३—तृतीय परिच्छेद—परोक्ष-प्रमाण का निरूपण... पृ० ३६
- ४—चतुर्थ परिच्छेद—आगम प्रमाण का स्वरूप ... पृ० ७४
- ५—पञ्चम परिच्छेद—प्रमाण का विषय ... पृ० ६४
- ६—षष्ठ परिच्छेद—प्रमाण का फल ... पृ० ६६
- ७—सप्तम परिच्छेद—नय का स्वरूप ... पृ० १३४
- ८—अष्टम परिच्छेद—वाद का स्वरूप... पृ० १४६



प्रमाण-मय-तत्कालोक्त

—०३०—

प्रथम परिच्छेद

मंगलाचरण

रामद्वेषविजेतारं, शार्ङ्गारं विश्वरूपम् ।
शम्भूपूर्णं गिरामीशं, तीर्थेशं शक्तिमानपे ॥

अर्थ—राम जीर द्वेष को जीतने वाले—वीरराम, रामभक्त
बाहुओं को जानने वाले—सर्वज्ञ, दृष्टो द्वारा पूजनीय तथा बाली के
स्वामी तीर्थेश्वर भगवान् को मैं स्मरण करता हूँ ।

विवेचन—घंघ-वचना में आने वाले विघ्नो का निवारण करने
के लिए आगतिक संघवार अपने घंघ की आदि में मंगलाचरण करने
हैं । मंगलाचरण करने में विघ्न-निवारण के अतिरिक्त सिद्धाचार का
पावन भी होता है और कृतकृता का प्रचारण भी ।

सगुण मंगलाचरण में 'तीर्थेश' का स्मरण किया गया है ।
शम्भु, शङ्खी, भावक, भाविका, यह अनेकविध रूप तीर्थें प्रमाण है ।
तीर्थ के स्वामी को तीर्थेश कहते हैं ।

तीर्थेश के साथ-साथ विरोधाल है । यह विरोधाल प्रमाण
कनके बार गुरु अतिरिक्त अनेक विरोधालों के सूचक है । बार

अभिमत यद है — (१) अविगतानां अभिमत (२) ज्ञान -
(३) प्रमाणित (४) वस्तुनिमित्त ।

संग का प्रयोजन

॥ प्रमाणनयनन्यायस्यापनार्यमिदमुपक्रमते ॥१॥

अर्थ—प्रमाण और नय के स्वरूप का निरूपण करने के ।
यह संग आरम्भ किया जाता है ।

प्रमाण का स्वरूप

॥ स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् ॥२॥

अर्थ—स्व और पर को निश्चिन्त रूप से जानने वाला
प्रमाण कहलाता है ।

विशेष—प्रत्येक पदार्थ के निर्णय की कच्चीटी प्रमाण ही है ।
अतएव सर्वप्रथम प्रमाण का लक्षण बताया गया है । यहाँ 'स्व' का
अर्थ ज्ञान है और 'पर' का अर्थ है ज्ञान में भिन्न पदार्थ । तात्पर्य यह
है कि वही ज्ञान प्रमाण माना जाता है जो अपने-आपको भी जानें
और दूसरे पदार्थों को भी जानें, और वह भी यथार्थ तथा निश्चित
रूप से ।

ज्ञान ही प्रमाण है

अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणं,
अतो ज्ञानमेवेदम् ॥३॥

अर्थ—प्रहृत करने योग्य और त्याग करने योग्य वस्तु को
स्वीकार करने तथा त्याग करने में प्रमाण समर्थ होता है, अतः ज्ञान
ही प्रमाण है ।

जैसे घट । सन्निकर्ष स्व-पर के निश्चय में कारण नहीं है । प्रमाण सही है ।

सन्निकर्ष स्व-पर स्वतन्त्र ही नहीं है

न सन्वस्य स्वनिर्णीता करणव्यम्, सम्प्रति
चेतनव्यान् ॥ नाप्यर्थनिर्णिता स्वनिर्णिताप्रकरणव्यम् ॥
देरिव तत्राप्यकरणव्यान् ॥५॥

अर्थ—सन्निकर्ष आदि स्व-निर्णय में कारण नहीं है, क्योंकि वह अचेतन है; जैसे स्वप्ना वीरगद । सन्निकर्ष आदि अर्थ (परम) के निर्णय में भी कारण नहीं है, क्योंकि जो स्व-निर्णय में कारण होता वह अर्थ के निर्णय में भी कारण नहीं होता, जैसे घट आदि ।

विवेचन—सन्निकर्ष की प्रमाणता का निषेध करने के लिए 'वह स्व-पर के निश्चय में कारण नहीं है' यह हेतु दिया गया है किन्तु यह हेतु प्रतिवादी-वैशेषिक को सिद्ध नहीं है और न्याय-शास्त्र के अनुसार हेतु प्रतिवादी को भी सिद्ध होना चाहिए । जिस हेतु प्रतिवादी स्वीकार नहीं करता वह अमिद्ध हेत्वाभास हो जाता है । इस प्रकार जब हेतु अमिद्ध हो जाता है तब उस हेतु को माध्यम बन कर उसे सिद्ध करने के लिए दूसरे हेतु का प्रयोग करना पड़ता है । यहां यही पद्धति उपयोग में ली गई है । पूर्वोक्त हेतु के दो स्वरूप करके दोनों को सिद्ध करने के लिए यहां दो हेतु दिये गये हैं ।

भाव यह है—सन्निकर्ष स्व के निश्चय में कारण नहीं है, क्योंकि वह अचेतन है; जो-जो अचेतन होता है वह-वह स्व-निश्चय में कारण नहीं होता, जैसे स्तम्भ । तथा—

सन्निकर्ष पर-पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता, क्योंकि वह पना (रू का) निश्चय नहीं कर सकता, जो अपना निश्चय नहीं कर सकता वह पर-पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता; जैसे घट ।

प्रमाण निरूपणात्मक है

तद् व्यवसायस्वभावं समारोपपरिपन्थित्वात् प्रमाण-
त्वात् वा ॥६॥

अर्थ—प्रमाण व्यवसाय रूप है, क्योंकि वह समारोप का विरोधी है अथवा प्रमाण व्यवसाय रूप है, क्योंकि वह प्रमाण है ।

विवेचन—प्रमाण का लक्षण बनाने समय इसे निश्चयान्मक कहा था; पर चौदह दर्शन में निर्विकल्प ज्ञान भी प्रमाण माना जाता है । जैनदर्शन में जिसे दर्शनोपयोग कहते हैं और जिसे सिर्फ सामान्य का बोध होता है वही चौदों का निर्विकल्प ज्ञान है । निर्विकल्प ज्ञान की प्रामाण्यता का निगोष करके यहाँ यह बताया गया है कि प्रमाण निश्चयान्मक है । निर्विकल्प ज्ञान में 'यह घट है, यह घट है', इत्यादि विरोधों का ज्ञान नहीं होता, इसी कारण यह ज्ञान प्रमाण नहीं है ।

यहाँ प्रमाण को व्यवसाय-स्वभाव कहा है, इसमें यह फलित होता है कि संशय-ज्ञान, विपरीत ज्ञान और अनव्यवसाय भी प्रमाण नहीं हैं ।

सूत्र का भाव यह है—प्रमाण व्यवसायान्मक (निश्चयान्मक) है, क्योंकि वह समारोप—संशय, विपर्यय, अनव्यवसाय विरोधी है; जो व्यवसायान्मक नहीं होता वह समारोप का निश्चय नहीं होता, जैसे घट । तथा—

संशय-समारोप

साधकबाधकप्रमाणमावादनवस्थितानेककोटिमंस्पर्श

ज्ञानं संशयः ॥१३॥ ।

यथा—अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा ॥१३॥ ।

अर्थ—साधक प्रमाण और बाधक प्रमाण का अभाव होने
। अनिश्चित अनेक अंशों को छूने वाला ज्ञान संशय कहलाता है ।

जैसे—यह टूट है वा पुरुष है ?

विवेचन—यहाँ संशय-ज्ञान का स्वरूप और कारण बतलाया
या है । साथ ही उदाहरण का भी उल्लेख कर दिया गया है ।

एक ही वस्तु में अनेक अंशों को स्पर्श करने वाला ज्ञान
शय है, जैसे टूटपन और पुरुषपन दो अंश हैं । इस ज्ञान के समय

टूट वा मिट्ट बरने वाला कोई प्रमाण होता है, न पुरुष का निरेष
रने वाला ही प्रमाण होता है । टूट और पुरुष दोनों में समान रूप
। रहने वाली उंचाई मात्र मान्य होती है । एक को दूसरे से भिन्न
रने वाला कोई विशेष धर्म मालूम नहीं होता ।

विपर्यय और संशय का भेद—विपर्यय ज्ञान में एक अंश
। ज्ञान होता है, संशय में अनेक अंशों का । विपर्यय में एक अंश
विहित होता है, संशय में दोनों अंश अनिश्चित होने हैं ।

अवधारणाय-समारोप

किमित्पातोचनमात्रमन्ययमायः ॥१३॥ ।

यथा-गच्छतृणस्पर्शज्ञानम् ॥१३॥ ।

पर शब्द का अर्थ समझाने के लिए अलग सूत्र रचने का प्रयोजन है। पट, पट आदि पदार्थों के सम्बन्ध में अनेक मत बौद्धों में एक माध्यमिक सम्प्रदाय है। वह पट आदि बाह्य वस्तुओं को और ज्ञान आदि आन्तरिक पदार्थों को मिथ्या मानता है। शून्यवादी है। उसके मत के अनुसार जगत् का यह समस्त प्रपञ्च या है, धाम्निष में कोई भी पदार्थ मनु नहीं है। अनादि बालीन या संस्कार के कारण हमें यह पदार्थ मालूम होते हैं।

माध्यमिक के अनिरिक्त वेदान्ती लोग भी बाह्य पदार्थों को या समझते हैं। इनके मत में एकमात्र ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म ही सगुण ब्रह्म के अनिरिक्त अन्य समस्त प्रतीत होने वाले पदार्थ अमनु हैं। तै में भी एक सम्प्रदाय भिन्न ज्ञान को धाम्निष मानता है और

प्रकार बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन का विरोध करने के लिए बाध ने इस सूत्र का निर्माण किया है।

स्वप्नवशात् का समर्पण

स्वस्य व्यवसायः स्वाभिमुख्येन प्रकाशनम्, पादस्यैव अभिमुख्येन; कश्चिन्नभक्तमहमात्मना जानामि ॥१६॥

व्याख्यान—बाह्य पदार्थ की ओर उन्मुख होने पर जो ज्ञान है वह बाह्य पदार्थ का व्यवसाय कहलाता है, इसी प्रकार ज्ञान की ओर उन्मुख होकर जो जानता है वह स्व का व्यवसाय कहलाता है—मैं, अपने ज्ञान द्वारा, हाथी के बच्चे को, जानता हूँ।

विशेष—यहाँ भी स्व-व्यवसाय का दृष्टान्त के साथ समर्थन
 दिया गया है। जो ज्ञान बाह्य पदार्थ—घट आदि को जानता है वही
 ज्ञेय-व्यापको भी जान लेता है। हमें बाह्य पदार्थ का ज्ञान हो जाय
 न्तु यह ज्ञान न हो कि 'हमें बाह्य पदार्थ का ज्ञान हुआ है' ऐसा
 भी सम्भव नहीं है। बाह्य पदार्थ के ज्ञान लेने को अब तक हम न
 लेते तब तक वास्तव में बाह्य पदार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं है।
 मैं सूर्य के प्रकाश द्वारा घट आदि पदार्थों को अब दृग् देख लेते हैं
 मैं सूर्य के प्रकाश को भी अवश्य देखने हैं, उगी प्रकाश अब ज्ञान
 का सिंगी पदार्थ को जानने हैं तब ज्ञान को भी अवश्य जानने हैं।
 मैं सूर्य के प्रकाश को देखने के लिए दूसरे प्रकाश की आवश्यकता
 ही होती उगी प्रकाश ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आव-
 श्यता नहीं होती। जैसे सूर्य अनदेखा नहीं रहता उगी प्रकाश ज्ञान
 ही अनजाना नहीं रहता।

प्रमाणता का स्वरूप

ज्ञानस्य प्रमेयाख्यभिचारित्वं प्रामाण्यम् ॥ तदित्यन्तर-
 प्रामाण्यम् ॥ १५॥

अर्थ—प्रमेय में अख्यभिचारी होता—अर्थात् प्रमेय पदार्थ
 ऐसा है उसे ऐसा ही जानना, यही ज्ञान की प्रमाणता है।

इसमें बिना अप्रमाणता है अर्थात् प्रमेय पदार्थ को यथार्थ
 रूप में न जानना—ऐसा नहीं है ऐसा जानना—अप्रमाणता है।

विशेष—जो वस्तु ऐसी है उसे उगी रूप में जानना ज्ञान
 की प्रमाणता है और अन्य रूप में जानना अप्रमाणता है। प्रमाणता
 और अप्रमाणता का यह भेद ज्ञान पदार्थों की अपेक्षा महत्त्व

जब कोई वस्तु बार-बार के परिचय से अभ्यास हो जाती है तब वस्तु का ज्ञान होने ही उस ज्ञान की प्रमाणता (सचाई) का निश्चय हो जाता है। जैसे—गुरु अपने शिष्य को प्रतिदिन देखता इस अभ्यास-दशा में शिष्य का प्रत्यक्ष होते ही गुरु को अपने विषयक ज्ञान की प्रमाणता का भी निश्चय हो जाता है। शिष्य देख कर गुरु यह नहीं सोचता कि मुझे अपने शिष्य का ज्ञान हो है सो यह ज्ञान प्रमाण है या नहीं? इसी को अभ्यास दशा में ज्ञान हो जाता कहते हैं।

जब कोई वस्तु अपरिचित होती है तब उसका ज्ञान हो जाने पर भी उस ज्ञान की प्रमाणता (सचाई) का निश्चय सम्भव ही हो जाता। यह सोचने लगता है—मुझे अमुक वस्तु का ज्ञान हुआ है पर न जाने यह ज्ञान सच्चा है या मिथ्या? इसके बाद उस ज्ञान को पुष्ट करने वाला कारण अगर मिल जाता है तो उसे अपने ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय हो जाता है; इसी को अनभ्यास दशा में परतः ज्ञान (निश्चय) कहते हैं। इसके विपरीत यदि ज्ञान ने मिथ्या निश्चय करने वाला कोई कारण मिल जाता है तो यह पुरुष अपने ज्ञान की अप्रमाणता का निश्चय कर लेता है।

यहाँ सामान्य ज्ञान हो जाने पर भी उस ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता का निश्चय दूसरे कारण से होता है। अनभ्यास दशा में प्रमाणता और अप्रमाणता का निश्चय परतः तलाया गया है। ✓

मीमांसक लोग प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञान स्वतः ही मानते हैं और अप्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञान परतः ही मानते हैं। छठ सूत्र में उनके मत का निरसन किया गया है।

रागे तीसरे अध्याय में परोक्ष के पांच भेद बतलाये जायेंगे । अनुमान और आगम भी हैं । उपमान प्रमाण सादृश्यप्रत्यभिज्ञान ६ परोक्षभेद में अन्नगर्भ है और अर्थापत्ति अनुमान में भिन्न नहीं । अभाव प्रमाण यथायोग्य प्रत्यक्ष आदि में समाविष्ट है । अतएव च और परोक्ष—यह दो भेद ही मानना उचित है ।

प्रत्यक्ष का प्रमाण

स्पष्टं प्रत्यक्षम् ॥ २ ॥ /—

अनुमानाद्याधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम् ॥ ३ ॥

अर्थ—स्पष्ट (निर्मल) ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । २

अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों की अपेक्षा पदार्थ का वर्ण, आदि विशेष मान्य होना स्पष्टत्व कहलाता है । ३

विवेचन—प्रत्यक्ष ज्ञान स्पष्ट होता है और परोक्ष अस्पष्ट होता । यही दोनों प्रमाणों में मुख्य भेद है । प्रत्यक्ष प्रमाण में रहने वाली ता क्या है, यह उदाहरण से समझना चाहिए । मान लीजिये—बालक को उसके पिता ने अग्नि का ज्ञान शब्द द्वारा करा दिया । क ने शब्द (आगम) में अग्नि ज्ञान ली । इसके पश्चात् फिर धूम आकर अग्नि का ज्ञान करा दिया । बालक ने अनुमान में अग्नि ली । तदनन्तर बालक का पिता जलता हुआ अंगार उठा लाया : बालक के सामने रख कर कहा—देखो, यह अग्नि है । यह च से अग्नि का ज्ञानना कहलाया ।

यहाँ पहले दो ज्ञानों की अपेक्षा, अन्तिम ज्ञान अर्थात् प्रत्यक्ष । अग्नि का विशेष वर्ण, स्पष्ट आदि का ओ माफ-मुपर ज्ञान

विषय अर्थान् घट आदि पदार्थ और विषयी अर्थान् मेरु आदि अत्र योग्य देश में मिलते हैं तब मध्यप्रथम दर्शनोपयोग उत्पन्न होता है । दर्शन महामामान्य अथवा सत्ता को ही जानता है । हमने पञ्चान् उपयोग कुछ आगे की ओर बढ़ता है और यह मनुष्यत्व अती अवान्तरमामान्य युक्त वस्तु को जान लेता है । यह अवान्तर मामान्य युक्त वस्तु अर्थान् मनुष्यत्व आदि का ज्ञान ही अवग्रह कहलाता है ।

ज्ञान की यह धारा उल्लेख्य विरोध की ओर मुकनी जाती है, जैसा कि अगले सूत्रों में ज्ञान होगा ।

ईश का स्वल्प

अनगृहीतार्थविरोधासाक्ष्यमीदा ॥ ८ ॥

अर्थ—अवग्रह में जाने दूये पदार्थ में विरोध जानने की इच्छा ईश है ।

टिप्पण—‘यह मनुष्य है’ जैसा अवग्रह ज्ञान में ज्ञान पाया था । हमने भी अभिष्ट ‘यह दक्षिणी है या पूर्वी’ इस प्रकार विरोध को जानने की इच्छा होता ईश ज्ञान कहलाता है । ईश ज्ञान ‘यह दक्षिणी होता आदिवे’ यहाँ तक पहुँच पाता है ।

अवग्रह का स्वल्प

ईदिविशेषनिर्णयोपपत्त्याः ॥ ९ ॥

अर्थ—ईश द्वारा जाने दूये पदार्थ में विरोध का निर्णय ईश ज्ञान अवग्रह है ।

टिप्पण—‘यह मनुष्य दक्षिणी होता आदिवे’ इत्यादि ज्ञान ईश

झाया हो चुका था, उसमें विरोध का निश्चय हो जाता अर्थात् है ।
जैसे—'यद् गन्तव्यं दक्षिणी ही है ।'

श्रीसेठिया छैन यं

धारणा का अर्थ

यादगार ।

स एव ददतमावस्थापन्नो धारणा ॥ १० ॥

अर्थ—अर्थात् ज्ञान जब अन्यन्त दद हो जाता है तब वही
अर्थात्, धारणा कहलाता है । १०-

विवेचन—धारणा का अर्थ संस्कार है । हृदय-बटल पर यह
ज्ञान इस प्रकार अस्ति हो जाता है कि फालगुनर में भी यह जागृत
हो सकता है । इसी ज्ञान से स्मरण होता है ।

इहा धीर संशय का अन्तर

मंशयपूर्वकत्वादीहायाः मंशयाद् भेदः ॥ ११ ॥

अर्थ—इहा ज्ञान मंशयपूर्वक होता है अतः यह मंशय से
भिन्न है । ११-

विवेचन—इहा ज्ञान में विरोध का निश्चय नहीं होता और
मंशय भी अनिश्चयान्तरक है, ऐसी अवस्था में दोनों में क्या भेद है ?
इस प्रश्न का समाधान यहाँ यह किया गया है कि संशय पहले होता
है और इहा बाद में उत्पन्न होती है अतएव दोनों भिन्न हैं ।
इसके अतिरिक्त—

मंशय में दोनों पलड़े परावर होते हैं—दक्षिणी और पश्चिमी
की दोनों कोटियाँ मुख्य बल वाली होती हैं; इहा में एक पलड़ा भारी

अर्थ—असमस्त रूप से भी उत्पन्न होने के कारण भिन्न २
 भाष बाने मान्य होतें हैं, यन्त्र की नवीन २ पर्याय को प्रकाशित
 गते हैं और क्रम से उत्पन्न होतें हैं, अतः अवग्रह आदि भिन्न २ हैं । ५ ?

विवेचन—अवग्रह आदि का भेद मिट्ट करने के लिये यहाँ
 ११ हेतु बताये गये हैं—

(१) पहला हेतु—कभी सिर्फ दर्शन ही होता है, कभी
 दर्शन और अवग्रह—दो ही उत्पन्न होतें हैं, इसी प्रकार कभी तीन,
 कभी चार ज्ञान भी उत्पन्न होतें हैं । इसमें प्रतीत होता है कि दर्शन,
 अवग्रह आदि भिन्न-भिन्न हैं । यदि यह अभिन्न होतें तो एक साथ
 तीनों ज्ञान उत्पन्न होतें अथवा एक भी न होता ।

(२) दूसरा हेतु—पदार्थ की नई-नई पर्याय को प्रकाशित
 करने के कारण भी दर्शन आदि भिन्न भिन्न मिट्ट होतें हैं । तात्पर्य यह
 कि सर्वप्रथम दर्शन पदार्थ में रहने वाले महा सामान्य को जानता
 है, फिर अवग्रह अथान्तर सामान्य को जानता है, ईहा विरोध की
 ओर मुक्तता है, अथवा विरोध का निश्चय कर देता है और धारणा में
 ह निश्चय अत्यन्त हृद बन जाता है । इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान नवीन-
 धीन धर्म को जानता है और इसमें उनमें भेद मिट्ट होता है ।

(३) तीसरा हेतु—पहले दर्शन, फिर अवग्रह आदि इस
 प्रकार क्रम से ही यह ज्ञान उत्पन्न होतें हैं, अतः भिन्न-भिन्न हैं ।

दर्शन-अवग्रह आदि का क्रम

क्रमोऽप्यमीषामपमेव तथैव संवेदनात्; एवंक्रमावि-
 र्त्तनिजकर्मक्षयोपशमजन्यत्वाच्च ॥१४॥

अर्थ—वही क्रम माझूम नहीं पड़ना क्योंकि यह मय ज्ञान ही उत्पन्न हो जाते हैं, कमल के मौ पत्तों को छेदने की तरह । १

विशेषण—जो वस्तु अन्यन्त परिचित होती है उसमें पहले जिन हुआ, फिर अवमह हुआ, इत्यादि क्रम का अनुभव नहीं होता । रसा कारण यह नहीं है कि जहाँ दर्शन आदि के बिना ही सीधा वाय या धारणा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है । वहाँ पर भी पूर्वोक्त क्रम ही ज्ञानों की उत्पत्ति होती है किन्तु प्रगाढ़ परिचय के कारण वह ब बहुत शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं । इसी कारण क्रम का अनुभव ही होगा । एक दूसरे के ऊपर कमल के मौ पत्ते रखकर उनमें कीला भाला घुमेड़ा जाय तो वे मय पत्ते क्रम में ही छिड़ेंगे पर यह माझूम नहीं पड़ पाता कि भाला कब पहले पत्ते में घुसा, कब उसमें गहर निकला, कब दूसरे पत्ते में घुसा आदि । इसका कारण शीघ्रता है । जब भाले का बेग इतना तीव्र हो सकता है तो ज्ञान जैसे हमनर पदार्थ का बेग उसमें भी अधिक तीव्र क्यों न होगा ?

पारमार्थिक प्रत्यक्ष

पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षम् ॥१८॥

अर्थ—जो ज्ञान आत्मा में ही उत्पन्न होता है उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं । १

विशेषण—पारमार्थिक प्रत्यक्ष अर्थात् साम्प्रतिक प्रत्यक्ष । यह प्रत्यक्ष सांख्यबुद्धारिक प्रत्यक्ष की भाँति इन्द्रियों और मन से उत्पन्न ही होता किन्तु आत्म-स्वरूप से उत्पन्न होता है । इसी कारण इसे स्व प्रत्यक्ष भी कहते हैं । सांख्यबुद्धारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य और भोजन्य होने के कारण वस्तुतः परोक्ष है किन्तु लोक में यह प्रत्यक्ष

विशेषण—यहाँ अवधिज्ञान का स्वरूप बताते हुए उसके उत्पादक कारण और उनके विषय का उल्लेख किया गया है ।

अवधिज्ञान के उत्पादक दो कारण हैं—अन्तरंग कारण और विरंग कारण । अवधिज्ञानावरण कर्म का स्योपशम अन्तरंग कारण है और देवभय और नरकभय या तपश्चरण आदि गुण विरंग कारण हैं । देवभय या नरकभय से जो अवधिज्ञान होता है उसे अवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं और तपश्चर्या आदि से होने वाला अवधिज्ञान गुणप्रत्यय कहलाता है । दोनों प्रकार के इन ज्ञानों में अन्तरंग कारण समान रूप में होता है । देवों और नारकी जीवों को अवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है और मनुष्यों तथा निर्यन्त्रों को गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है । मगर सब देवों और नारकों के समान सब मनुष्यों और निर्यन्त्रों को यह ज्ञान नहीं होता ।

अवधिज्ञान भिन्न रूपी पदार्थों को जानता है । रूप, रस, गन्ध और सार वाले पदार्थ को रूपी कहते हैं । केवल पुद्गल द्रव्य ही रूपी है ।

मनःपर्याय ज्ञान का स्वरूप

संयमविशुद्धिनिबन्धनाद्, विशिष्टावरणविच्छेदाज्ज्ञातं,
मनोद्रव्यपर्यायात्मकं मनःपर्यायज्ञानम् ॥२२॥

अर्थ—जो ज्ञान संयम की विशिष्ट शुद्धि से उत्पन्न होता है, तथा मनःपर्याय ज्ञानावरण कर्म के स्योपशम से उत्पन्न होता है और मन सम्बन्धी ज्ञान को जान लेता है उसे मनःपर्याय ज्ञान कहते हैं । २२

विशेषण—संयम की विशुद्धता मनःपर्यायज्ञान का विरंग

अहंन्त ही सर्वज्ञ हैं

तद्वानर्हन्निर्दोषत्वात् ॥२४॥ ।

निर्दोषोऽर्मा प्रमाणाविरोधिराकृत्वात् ॥२५॥ ।

तदिष्टस्य प्रमाणेनावाप्यमानत्वात्, तदाचस्तेना-
विरोधमिद्धिः ॥२६॥

अर्थ—अहंन्त भगवान् ही केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) हैं क्योंकि
निर्दोष हैं ॥ २४

अहंन्त भगवान् निर्दोष हैं, क्योंकि उनके वचन प्रमाण से
बिरुद्ध नहीं हैं ॥ २५

अहंन्त भगवान् के वचन प्रमाण में बिरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि
उनका (स्याद्वाद्) मत प्रमाण में स्वरिद्ध नहीं होता । ॥ २६

विवेचन—ऊपर के सूत्र में केवलज्ञान का विधान करके यहाँ
अहंन्त भगवान् को ही केवलज्ञानी मिद्ध दिया गया है । अहंन्त
भगवान् को केवली मिद्ध करने के लिए निर्दोषत्व हेतु दिया है ।
निर्दोषत्व हेतु को मिद्ध करने के लिए 'प्रमाणाविरोधि वचन' हेतु दिया
है और इस हेतु को मिद्ध करने के लिए 'अहंन्त भगवान् के मत को
अवाधितता' हेतु दिया गया है । अनुमान का प्रयोग इस प्रकार करना
चाहिये:—

(१) अहंन्त ही सर्वज्ञ हैं, क्योंकि वे निर्दोष हैं, जो सर्वज्ञ
नहीं होता वह निर्दोष नहीं होता, जैसे हम सब लोग । (व्यतिरेकी
हेतु)

(४) असत्यप्रतिपक्षता—हेतु का विरोधी समान बल वाला भ्रमा हेतु न हो।

(५) अबाधितविषयता—हेतु का साध्य प्रत्यक्ष आदि रमाणों में बाधित न हो।

वाग्वय में बौद्धों और नैयायिकों का हेतु का यह लक्षण ठीक नहीं है। इनके दो कारण हैं—प्रथम, यह कि इन सब के मौजूद होने पर भी कोई-कोई हेतु सही नहीं होता, दूसरे, कभी-कभी इनके रहने पर भी हेतु सही होता है। इस प्रकार हेतु के इन दोनों लक्षणों में अध्यामि और अप्रतिध्यामि दोनों दोष विद्यमान हैं।

साध्य का स्वरूप

प्रप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम् ॥१४॥

तं चित्तविपरीतानप्यवमितवन्तूनां साध्यताप्रतिपक्ष्यर्धमप्रतीत-
वचनम् ॥१५॥

रत्यक्षादिविरुद्धस्य साध्यत्वं मा प्रमज्ज्यतामित्यनिराकृत-
प्रहणम् ॥१६॥

अनभिमतस्यासाध्यत्वप्रतिपक्षयेऽभीप्सितपदोपादानम् ॥१७॥

अर्थ—जो प्रतिवादी को स्वीकृत न हो, जो द-यक्ष आदि केभी प्रमाण में बाधित न हो और जो वादी को मान्य हो, वह साध्य होता है। १-५

जिगमें रंवा हो, जिमे उलटा मान लिया हो अथवा जिगमें

अनध्यवसाय हो रही माध्य हो सकता है, यह बताने के लिए को 'अप्रतीत' कहा है । '५

जो प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण में बाधित हो, वह माध्य हो जाय, यह सूचित करने के लिए माध्य को 'अनिगृह्य' कहा है ।

जो बाधों को मिट्ट नहीं है वह माध्य नहीं ।
बताने के लिए माध्य को 'अभीहित' कहा है ।

विवेचन—जिसे मिट्ट करना हो वह माध्य कहलाता है । निर्दोष माध्य में तीन बातें होनी आवश्यक हैं—(१) प्रथम यह कि प्रतिपादी को वह पहले में ही मिट्ट न हो; क्योंकि मिट्ट बात मिट्ट करना युक्त है । (२) दूसरी यह कि माध्य में किसी प्रमाण में बाध न हो, 'अग्नि टण्डी है' यहाँ अग्नि का टण्डान्न प्रत्यक्ष में बाधित है अतः यह माध्य नहीं हो सकता । (३) तीसरी यह कि जिस बात को बाधों मिट्ट करना चाहे वह उसे स्वयं माध्य हो; 'आत्मा नहीं है' यहाँ आत्मा का अभाव जिसे मान्य नहीं है वह आत्मा का अभाव मिट्ट करेगा तो माध्य दूजित कहलायेगा ।

माध्य सम्बन्धी नियम

व्याप्तिप्रदण्यमवाप्यता गार्ह्यं धर्म एव, शन्यता नदनु
वपनेः ॥१८॥

न हि यद यद भूयस्य तद विवक्षानांमिद चमिरीधमगाय
नृत्तिरस्मि ॥१९॥

मानुषार्थनदप्रतिपण्यवगमप्यता नृ यगायगायकमार्त्तिरिदः
व्रिक्ता धर्मी ॥२०॥

धर्म—व्याप्ति प्रदण करने समय धर्म ही माध्य होता है—
भी नहीं; धर्मों को माध्य बनाया जाय तो व्याप्ति नहीं बन सकती । १

जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि की भाँति पर्वत
धर्मों) की व्याप्ति नहीं है । २

अनुमान प्रयोग करने समय धर्म (अग्नि) से युक्त धर्मों
पर्वत) माध्य होता है । धर्मों का दूसरा नाम पक्ष है और वह
मिद्ध होता है । ३

विवेचन—यहाँ कब क्या माध्य होना चाहिए, यह बताया
या है । अब व्याप्ति का प्रयोग करना हो तो 'जहाँ जहाँ धूम होता है
दाँ-वहाँ अग्नि होती है' इस प्रकार अग्नि धर्म को ही माध्य बनाना
हिए । यदि धर्म को ही माध्य न बनाकर धर्मों को माध्य बनाया
जय तो व्याप्ति यो बनेगी—जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ वहाँ पर्वत में अग्नि
।' पर ऐसी व्याप्ति ठीक नहीं है । अतएव व्याप्ति के समय धर्मों
पक्ष) को छोड़ कर धर्म को ही माध्य बनाना चाहिए ।

इसमें विपरीत, अनुमान का प्रयोग करने समय अग्नि धर्म
युक्त धर्मों (पर्वत) को ही माध्य बनाना चाहिए । उस समय
सिद्ध है, क्योंकि धूम है' इतना कहना पर्याप्त नहीं है । क्योंकि अग्नि
। अग्निव मिद्ध करना इस अनुमान का प्रयोजन नहीं है किन्तु
र्वत में अग्नि मिद्ध करना इष्ट है । अतएव अनुमान-प्रयोग के समय
में से युक्त पक्ष माध्य बन जाना है । तात्पर्य यह है कि पर्वत प्रसिद्ध
अग्नि भी सिद्ध है, किन्तु अतिमान पर्वत मिद्ध नहीं है, अतः वही
पक्ष होना चाहिए ।

अर्थ—एक और हेतु का बचन परार्थानुमान है। उसे उपचार अनुमान कहते हैं।

विशेष—स्वार्थानुमान को शब्दों द्वारा कहना परार्थानुमान। मान लीजिये देवदत्त को धूम देखने में अग्नि का अनुमान। यह अपने साथी जिनदत्त से कहता है—‘देसो, पर्वत में अग्नि क्योंकि धूम है।’ तो देवदत्त का यह शब्द-प्रयोग परार्थानुमान है, कि वह परार्थ है अर्थात् दूसरे को ज्ञान कराने के लिए बोला है।

प्रत्येक प्रमाण ज्ञान-स्वरूप होता है पर परार्थानुमान शब्द-रूप है। शब्द जड़ हैं अतः परार्थानुमान भी जड़रूप होने से तब नहीं हो सकता। किन्तु इन शब्दों को सुनकर जिनदत्त को अनुमान उत्पन्न होता है। अतएव परार्थानुमान स्वार्थानुमान का एक है। कारण को उपचार में कार्य मान कर परार्थानुमान को अनुमान ज्ञान लिया है।

पक्ष-प्रयोग की आवश्यकता

माध्यस्य प्रतिनियतधर्मिगम्यन्धिनाप्रमिद्वये हेतोरप-
हारवचनरत् पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥२४॥

त्रिविधं माधनमभिधायैव सत्समर्थनं विदधानः कः खलु
पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते ? ॥२५॥

अर्थ—माध्य का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये उपनय की भाँति पक्ष का प्रयोग भी आवश्यक करना चाहिए।

अर्थ—प्रत्यक्ष द्वारा जाने हुए पदार्थ का उल्लेख करने वाली परार्थ प्रत्यक्ष है, क्योंकि उन वचनों से दूसरे को प्रत्यक्ष है। २६।

जैसे—देगो, सामने, चमकती हुई किरणों वाली मणियों के ने से ऊँचे हुए आभूषणों को धारण करने वाली जिन भगवान् शनिमा है। २७।

विवेचन—जैसे अनुमान द्वारा जानी हुई बात शब्दों द्वारा परार्थानुमान है उसी प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा जानी हुई बात को भी कहना परार्थ प्रत्यक्ष है। परार्थानुमान जैसे अनुमान वा गु है उसी प्रकार परार्थ प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष का कारण है। यह परार्थ व भी शब्दान्मक होने के कारण उपचार से प्रमाण है।

अनुमान के अक्षय

पक्षहेतुवचनभक्षयसद्वयमेव परप्रतिपक्षरंगं, न दृष्टा-
देवचनम् ॥२८॥

अर्थ—पक्ष का प्रयोग और हेतु का प्रयोग, यह दो अक्षय वचनों को समझाने के कारण है, दृष्टान्त आदि का प्रयोग नहीं।

विवेचन—परार्थानुमान के अक्षयों के सम्बन्ध में अनेक हैं। सांग्र्य भोग पक्ष, हेतु और दृष्टान्त यह तीन अक्षय मानने सामान्य उपनय के साथ चार अक्षय मानने हैं, और सांग्र्य भोग इन को इनमें सम्मिलित करके पाँच अक्षय मानने हैं।

इन सब मतों का निरसन करते हुए पक्ष और हेतु इन दो ही बातों का समर्थन किया गया है, क्योंकि दूसरे को समझाने के

विशेष—यहाँ हेतु के प्रयोग की विविधता बताई गई है। यथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति रूप हेतुओं में अर्थका भेद नहीं है, केवल एक में विधि रूप में प्रयोग है और दूसरे में निषेध रूप में। दोनों का आशय एक है अतएव किसी भी एक का प्रयोग करना पर्याप्त है, दोनों को एक साथ सोचना अनुसंगी है।

दृष्टान्त अनुमान का व्यवहार नहीं है

न दृष्टान्तवचनं परप्रतिपत्तये प्रभवति, तस्यां पक्षहेतु-
वचनयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ ३३ ॥

न पक्षेतोरन्यथानुपपत्तिनिर्णीतये, यथोक्ततर्कप्रमाणा-
देव तदुपपत्तेः ॥ ३४ ॥

निरर्तकविशेषस्वभावे च दृष्टान्ते साकल्येन व्या-
प्टेरयोगतो विप्रतिपत्ता तदन्तरापेक्षायामनवस्थितेर्दुर्निवारः
समयतारः ॥ ३५ ॥

नाप्यविनामावस्मृतये, प्रतिपक्षप्रतिपक्षम्य व्युत्पन्नमतेः
पक्षहेतुप्रदर्शनेनैव तन्प्रसिद्धेः ॥ ३६ ॥

अर्थ—दृष्टान्त दूसरे को समझाने के लिए नहीं है, क्योंकि दूसरे को समझाने में पक्ष और हेतु के प्रयोग का ही व्यापार देखा जाता है ॥ ३३

दृष्टान्त, हेतु के अविनाभाव का निर्णय करने के लिये भी नहीं, क्योंकि पूर्वोक्त तर्क प्रमाण में अविनाभाव का निर्णय होता है ॥ ३४

दृष्टान्त, निश्चित एक विशेष स्वभाव वाला होता है

(एक महान्तम तक ही सीमित रहना है) इसमें क्यानि पूर्ण का नहीं घट सकती अनन्त दृष्टान्त में क्यानि सम्बन्धी विवाद होने पर दूसरा दृष्टान्त दूटना पड़ेगा, इस प्रकार अनवस्था अनिवार्य होगा ॥

दृष्टान्त, अविनाभाव के स्मरण के लिए भी नहीं हो सके क्योंकि जिसमें अविनाभाव सम्बन्ध ज्ञान निश्चय है और जो प्रमाण है, इसके आगे पक्ष और हेतु का प्रयोग करने में ही उसे अविनाभाव का स्मरण हो जाता है ॥

विवेचन—दृष्टान्त को अनुमान का अवयव मानने के प्रयोजन हो सकते हैं । (१) दूसरे को माध्य का ज्ञान कराना । (२) अविनाभाव का निर्णय कराना और (३) अविनाभाव का स्मरण कराना । किन्तु इनमें से किसी भी प्रयोजन के लिए दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि पक्ष और हेतु का कथन करने में माध्य का ज्ञान हो जाता है, तर्क प्रमाण में अविनाभाव का निर्णय हो जाता है और पक्ष-हेतु के कथन में ही अविनाभाव का स्मरण हो जाता है ।

इसके अनिरिक्त जो दृष्टान्त में अविनाभाव का निर्णय होता मानते हैं, उन्हें अनवस्था दोष का सामना करना पड़ेगा । पक्ष में अविनाभाव का निर्णय करने के लिए दृष्टान्त चाहिए तो दृष्टान्त में अविनाभाव का निर्णय करने के लिए एक नया दृष्टान्त चाहिए, उसमें भी अविनाभाव का निर्णय किसी नये दृष्टान्त से होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा । क्योंकि दृष्टान्त एक विरोध स्वभाव वाला होता है अर्थात् वह एक ही स्थान तक सीमित होता है जब कि क्यानि सामान्य रूप है अर्थात् त्रिकाल और त्रिलोक सम्बन्धी होती है । ऐसे दृष्टान्त में पूर्ण रूपेण क्यानि नहीं घट सकती ।

प्रकारान्तर से माध्यमेन

अन्तर्ध्याप्तिरित्येताः माध्यमप्रत्यापने शक्तावशक्ता च
देव्याप्तिरुद्धारने व्यर्थम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—अन्तर्ध्याप्ति द्वारा हेतु से माध्य का ज्ञान हो जाने पर
या न होने पर भी बहिर्ध्याप्ति का कथन करना व्यर्थ है ।

विशेषण—अन्तर्ध्याप्ति का और बहिर्ध्याप्ति का स्वरूप भागे
जाना जायगा । इस सूत्र का आशय यह है कि अन्तर्ध्याप्ति के द्वारा
यदि माध्य का ज्ञान करा देना है तब बहिर्ध्याप्ति का कथन व्यर्थ
और अन्तर्ध्याप्ति के द्वारा हेतु यदि माध्य का ज्ञान नहीं कराया
भी बहिर्ध्याप्ति का कथन व्यर्थ है । आशय यह है कि बहिर्ध्याप्ति
के द्वारा में व्यर्थ है ।

अन्तर्ध्याप्ति और बहिर्ध्याप्ति का स्वरूप

पक्षीकृत एव विषये माधनस्य माध्येन व्याप्तिरन्तर्ध्याप्तिः;
यत्र तु बहिर्ध्याप्तिः ॥ ३८ ॥

यथाऽनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवापपत्तेरिति;
प्रमाणं देशो भूमवत्त्वान्, य एवं न एवं, यथा पाकस्थान-
म् ॥ ३९ ॥

अर्थ—यस में ही माधन की माध्य के साथ व्याप्ति होना
व्याप्ति है और यस के बाहर व्याप्ति होना बहिर्ध्याप्ति ॥

लैते—वस्तु अनेकान्त रूप है, क्योंकि वह सगु है, और, यह

हेतु का समर्पण

समर्पणमेव परं परप्रतिपक्ष्यङ्गमास्तां, तदन्तरेण
टान्तादिप्रयोगेऽपि तदसम्भवात् ॥ ४१ ॥

अर्थ—समर्पण को ही परप्रतिपक्ष का अङ्ग मानना चाहिये,
क्योंकि समर्पण किए बिना; दृष्टान्त आदि का प्रयोग करने पर भी
माध्य का ज्ञान नहीं हो सकता ।

विवेचन—हेतु के दोषों का अभाव दिखाकर उसे निर्दोष सिद्ध
करना समर्पण है । समर्पण करने से ही हेतु समीचीन सिद्ध होता है ।
सर्पण को चाहे अनुमान का अलग अङ्ग माना जाय चाहे हेतु में ही
से अन्तर्गम किया जाय, पर है वह आवश्यक । समर्पण के बिना
दृष्टान्त का प्रयोग करना निरर्थक है ।

शिष्याबुधोऽपि अनुमानके अवयव

मन्दमूर्तीन्नु प्युरपादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि
प्राज्यानि ॥ ४२ ॥

अर्थ—मन्दबुद्धि वाले शिष्यों को समझाने के लिए दृष्टान्त,
उपनय और निगमन का भी प्रयोग करना चाहिये ।

विवेचन—परार्थानुमान दूसरे को माध्य का ज्ञान कराने के
लिए बोला जाता है । अतएव जितना बोलने से दूसरा समझ जाय,
उतना बोलना ही उचित है; उसमें किसी अनिवार्य बन्धन की आव-
श्यकता नहीं है । हाँ, बाद-बिबाद के समय बाढ़ी और प्रतिबादी दोनों
का ज्ञान होवे है अतः उन्हें पक्ष और हेतु यह दो ही अवयव पर्याप्त हैं ।

दृष्टान्त का निरूपण

प्रतिबन्धप्रतिवर्त्तगम्यदं दृष्टान्तः ॥ ४३ ॥

म द्वेधा माधर्म्यतो वैधर्म्येनश्च ॥४४॥

यत्र माधनधर्ममत्तायाम् माध्यधर्ममना प्रकार
माधर्म्यदृष्टान्तः ॥४५॥

यथा—यत्र यत्रभूमस्तत्र तत्र वद्विर्यथा महानम

यत्र तु माध्यामारे माधनम्यावरयमभावः ।

म वैधर्म्यदृष्टान्तः ॥४७॥

यथा—अन्यमारे न भरन्येव भूमो यथा जनाशये

अर्थ—अविनाभाव बनाने के स्थान को दृष्टान्त कहते

दृष्टान्त को प्रकार का है—(१) माधर्म्य दृष्टान्त व

वैधर्म्य दृष्टान्त ॥

जहाँ माधन के होने पर माध्य का होना बनाया जा

माधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है ।

जैसे—जहाँ जहाँ भूम होना है वहाँ वहाँ अग्नि होती है, वही

माधर्म्य दृष्टान्त ।

जहाँ माधन के अभाव में माध्य का अभाव निमित्त

वैधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है ।

जैसे—जहाँ अग्नि का अभाव होता है वहाँ धूम का अभाव होता है; जैसे साक्षात् ।

विशेषण—इयामि को लिम स्थान पर दिग्गया जाय वह स्थान दृष्टान्त है। अन्यथइयामि को दिग्गाने का स्थल साधर्म्य दृष्टान्त या अन्यथ दृष्टान्त कहलाता है, जैसे ऊपर के उदाहरण में 'रमोईणर'। रमोईणर में साधन (धूम) के होने पर साध्य (अग्नि) का गदभाय दिग्गया गया है। व्यतिरेक इयामि को बताने का स्थान वैधर्म्य या व्यतिरेक दृष्टान्त कहलाता है, जैसे ऊपर के उदाहरण में 'तालाब'। तालाब में साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिग्गया गया है।

किसके मद्भाष में किसका मद्भाष होता है और किसके
अभाष में किसका अभाष होता है, यह ध्यान में रखना चाहिये।

॥५॥

हेतोः साध्यधर्मिण्युपपन्नं ह्यस्यमुपपन्नः ॥४६॥ ३-

यथा-धूमश्चात्र प्रदेशे ॥५०॥

उत्तर—पक्ष में हेतु का उद्घाटन करना (रोहना) उपलब्ध है ।

जैसे—इस जगह भी पूम है ।

विशेष—पहले हेतु का प्रयोग करके पक्ष में हेतु का मङ्गल दिग्वा दिया जाता है, फिर ध्याति और उद्धारण दोनों के पश्चात् दुमरी पार कहा जाता है—‘इम जगद् भी सूम् है ।’ यही पक्ष में हेतु का सोद्धारण है और यही उन्नयन है ।

Figure 1

भाष्यधर्मस्य पुनर्निगमनम् ॥४१॥ /

अर्थ—अन्यथानुपपत्तिरूप पूर्वोक्त हेतु दो प्रकार का है—
(१) उपलब्धिरूप और (२) अनुपलब्धिरूप ।

उपलब्धिरूप हेतु में विधि और निषेध दोनों मिट्ट होते हैं
और अनुपलब्धिरूप हेतु में भी दोनों मिट्ट होते हैं ।

विवेचन—विधि-सद्भावरूप हेतु को उपलब्धि हेतु कहते
और निषेध अर्थात् असद्भावरूप हेतु अनुपलब्धि कहलाता है ।
यह लोगों की यह मान्यता है कि उपलब्धि हेतु विधिमात्रक और
अनुपलब्धिहेतु निषेधमात्रक ही होता है । इस मान्यता का विरोध
करते हुए यहाँ दोनों प्रकार के हेतुओं को दोनों का मापक बताया
या है । प्रत्येक हेतु जैसे अपने सम्बन्धी का सद्भाव सिद्ध करना
उसी प्रकार अपने विरोधी का अभाव भी सिद्ध कर सकता है ।

विधि-निषेध की व्याख्या

विधिः सदंशः ॥५६॥ १

प्रतिषेधोऽसदंशः ॥५७॥ २

अर्थ—सन् अंश को विधि कहते हैं ।

असन् अंश को प्रतिषेध कहते हैं ।

विवेचन—प्रत्येक वस्तु में सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म पाये
जाते हैं । अतएव सत्त्व वस्तु का एक अंश (धर्म) है और असत्त्व
एक अंश है । सत्त्व और असत्त्व सर्वथा वृथक् पदार्थ नहीं हैं ।
सीमित मूर्तों में 'अंश' शब्द का प्रयोग किया गया है । वैशेषिक
में सत्त्व (सामान्य) और अभाव को अलग पदार्थ मानते हैं,
और उनकी इस मान्यता का परोक्षरूप में विरोध किया गया है ।

प्रतिषेध के भेद

स चतुर्था-प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः,
अत्यन्ताभावश्च ॥५८॥

अर्थ—प्रतिषेध (अभाव) चार प्रकार का है—
प्रध्वंसाभाव, इतरेतरभाव और अत्यन्ताभाव ।

प्रागभाव का स्वरूप

यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागभावः ॥५९॥
यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पिण्डः ॥६०॥
अर्थ—जिस पदार्थ के नाश होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है वह पदार्थ उस कार्य का प्रागभाव है । — ५९ ॥

जैसे मिट्टी के पिण्ड का नाश होने पर ही उत्पन्न होने वाला घट का प्रागभाव मिट्टी का पिण्ड है । — ६० ॥

विवेचन—किन्ती भी कार्य की उत्पत्ति होने में पहले जो अभाव होता है वह प्रागभाव कहलाता है । यहाँ मृत्पिण्ड को घट का प्रागभाव बनलाया है । इसमें यह स्पष्ट हो कि, अभाव एकान्त असत्कारूप (नृच्छामावरूप) नहीं है, पदार्थान्तर रूप है । आगे भी इसी प्रकार समझना चाहिये ।

प्रध्वंसाभाव का स्वरूप

यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभावः ॥६१॥
यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो कलशस्य कपालकदम्बकम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—अिम पदार्थ के उत्पन्न होने पर कार्य का अवसर हो जाता है यह पदार्थ उस कार्य का प्रध्वंसाभाव है ॥

त्रैमे—दुक्खों का समूह उत्पन्न होने पर निश्चित रूप से नष्ट होने वाले घट का प्रध्वंसाभाव दुक्खों का समूह है ॥

इतरेतराभाव का स्वरूप

स्वरूपान्तगत् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराभावः ॥ ६३ ॥

नया म्मस्वभावान् कुम्भस्वभावव्यावृत्तिः ॥ ६४ ॥

अर्थ—एक पदार्थ का दूसरी पदार्थ में न पाया जाना इतरे-
भाव है । ॥ ६३, ६४

त्रैमे—मम्म का कुम्भ में न पाया जाना ।

विवेचन—मम्म और कुम्भ—दोनों पदार्थ एक साथ मद्भाव हैं, किन्तु मम्म कुम्भ नहीं है और कुम्भ मम्म ही है । इस-
तर दोनों में परस्पर का अभाव है । यही अभाव इतरेतराभाव,
न्याभाव या परस्पराभाव कहलाता है ।

अव्यक्ताभाव का स्वरूप

कालत्रयाऽपेक्षिणी तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ता-
वः ॥ ६५ ॥

यथा चेतनाचेतनयोः ॥ ६६ ॥ ।

अर्थ—त्रिकाल सम्बन्धी तादात्म्य के अभावां को अव्यक्ता-
व कहते हैं ।

विवेचन—एक द्रव्य त्रिकान में भी दूसरा द्रव्य नहीं है जैसे चेतन कभी अचेतन न हुआ, न है और न होगा । प्रत्येक द्रव्य में, दूसरे द्रव्य का त्रैकालिक अभाव वास्तवही अत्यन्ताभाव है । एक ही द्रव्य की अभाव इतरेतराभाव कहलाता है और अनेक द्रव्यों का अभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है । प्रागभाव अनादि अभाव अत्यन्ताभाव अनादि अत्यन्त है, इतरेतराभाव सादि मान्य । अत्यन्ताभाव अनादि अत्यन्त है ।

उपसन्धि हेतु के भेद

उपलब्धेरपि द्वैविध्यमधिकदोषलब्धिर्विहदोषलब्धिः ।

अर्थ—उपलब्धि हेतु के भी दो भेद हैं—(१) वयं वस्तुनि और (२) विहदोपलब्धि । —

विवेचन—मात्र में आविष्ट हेतु की वस्तुनि अर्थात् अदि । और मात्र में विहद हेतु की उपलब्धि विहदोपलब्धि ।

विहदोपलब्धि अविहदोपलब्धि के भेद

तथाविहदोपलब्धिर्विहदोपलब्धिः ॥ १८ ॥

अर्थ—विहदोपलब्धि मात्र मात्र को विहद कहने वाली अर्थात् अविहदोपलब्धि की है । —

वेदों का निमित्त

मात्रवर्तिनः ॥ १९ ॥

अर्थ—(१) साध्याविरुद्ध उपायोपलब्धि, (२) साध्याविरुद्ध
 तीरलब्धि, (३) साध्याविरुद्ध कारणोपलब्धि (४) साध्याविरुद्ध
 वगोपलब्धि (५) साध्याविरुद्ध उत्तरवगोपलब्धि (६) साध्याविरुद्ध
 वगोपलब्धि; विधिसाधक साध्याविरुद्ध-उपलब्धि के यह छह भेद

कारण हेतु का समर्थन

तमस्विन्यामास्वाद्यमानादाग्रादिकतरसादेकसामप्र्य-
 मस्या रूपाद्यनुमितिममिमन्यमानैरमिमतमेव किमपि कारणं
 तिपा; यत्र शक्तेरप्रतिस्मृतलनमपरकारणमाकन्यञ्च ॥७०॥

अर्थ—गन्धि में घूमे जाने जाने आम आदि फल के रस में,
 की उत्पत्तिक सामग्री का अनुमान करके, फिर उससे रूप
 गन्धि का अनुमान मानने वालों ने (बीड़ों ने) कोई कारण हेतु रूप में
 तैयार किया ही है, जहाँ हेतु की शक्ति का प्रतिपान न होगा
 । और दूसरे सहकारी कारणों की पूर्णता हो । —

टिप्पण—बीड़, उपलब्धि के स्वभाव और कार्य—यह दो
 ही भेद मानते हैं, कारण आदि को उन्होंने हेतु नहीं माना । वे कहते
 हैं—कार्य का कारण के साथ अविनाभाव है, कारण का कार्य के
 साथ नहीं; क्योंकि कार्य बिना कारण के नहीं हो सकता, पर कारण
 तो कार्य के बिना भी होता है । अतएव कारण को हेतु नहीं मानना
 चाहिए ।' बीड़ों के मत का यहाँ खरबन करने के लिए दो बातें बही
 गई हैं:—

(१) प्रत्येक कारण हेतु नहीं होता किन्तु जिस कारण का
 कार्योत्पादक सामर्थ्य मणि-मन्त्र आदि प्रतिबन्धकों द्वारा रुका हुआ

स्वव्यापारापेक्षिणी हि कार्यं प्रति पदार्थस्य चा-
त्वव्यवस्था, कुलालस्येव कलशं प्रति ॥ ७३ ॥

न च व्यवहितयोस्तयोर्व्यापारपरिकल्पनं न्याय्यं
प्रसक्तेरिति ॥ ७४ ॥

परम्पराव्यवहितानां परेषामपि तत्कल्पनस्य नि-
यितुमशक्यत्वात् ॥ ७५ ॥

अर्थ—अतीत ज्ञापन-अवस्था का ज्ञान, प्रबोध (मोक्ष जन्मे
के पश्चात् होने वाले ज्ञान) का कारण नहीं है और भावी ज्ञान
अविष्ट (अज्ञानो नाश न दीप्तता आदि) का कारण नहीं है, दोनों
वे समय में व्यवहित हैं इसलिए प्रबोध और अविष्ट जन्म कावे
व्यापार नहीं करते ॥ --

जो कार्य की कल्पना में स्वयं व्यापार करता है वही कारण
कहा जाता है, जैसे कुम्हार घट में कारण है।

समय का व्यवधान होने पर भी अतीत ज्ञापन आद्या का
ज्ञान और भग्न, प्रबोध और अविष्ट की कल्पना में व्यापार करते हैं,
ऐसी कल्पना व्यायमगत नहीं है, अन्यथा सब पीटाया हो जायगा।

(निम्न में) परम्परा में व्यवहित अस्यान्य पदार्थों के व्या-
पार की कल्पना करना भी अनिवार्य हो जायगा ॥

विवेचन—यहमें बताया जा चुका है कि तर्ही समय का
व्यवधान होता है, वही कार्य-कारण का भव नहीं होता। इसी
विधान का वही समर्थन दिया गया है।

शब्द—जागते समय हमें देवदत्त का ज्ञान हुआ । रात में सो मो गये । दूसरे दिन हमें देवदत्त का ज्ञान रहता है । ऐसी अवस्था में सोने में पत्थर का ज्ञान सोने के बाद के ज्ञान का कारण है । पहले अतिरिक्त वह मरीने पश्चात् होने वाला मरण अवस्थानी का न होयना अर्थात् अविष्टों का कारण होता है । यहाँ दोनों उग्राह समय का व्यवधान होने पर भी कार्य कारण भव है ।

समाधान—कारण बड़ी कहलाता है जो कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करता है । जैसे कुम्हार घट की उत्पत्ति में व्यापार करता है इसीलिए उसे घट का कारण माना जाता है । भूतकालीन ज्ञान अवस्था का ज्ञान और भविष्यकालीन मरण, प्रबोध और अविष्ट की उत्पत्ति में व्यापार नहीं करने, अतः उन्हें कारण नहीं माना जा सकता ।

शब्द—भूतकालीन ज्ञान-अवस्था के ज्ञान का और भविष्यकालीन मरण का प्रबोध और अविष्ट की उत्पत्ति में व्यापार होता है, यह मान लेने में क्या गति है ?

समाधान—व्यापार बड़ी करेगा जो विश्रमान होगा । जो नष्ट हो चुका है अथवा जो अभी उत्पन्न हो नहीं हुआ वह अविश्रमान या असन् है । अस्तु किसी कार्य की उत्पत्ति में व्यापार नहीं कर सकता । और व्यापार किए बिना ही कारण मान लेने पर चाहे जिसे कारण मान लेना पड़ेगा ।

सहचर हेतु का समर्थन

महचारिणोः परस्परस्वरूपपरित्यागेन तादात्म्यानुपपत्तेः
सहोत्पादेन तदुत्पत्तिविपत्तेश्च सहचरहेतोरपि श्रोक्तेषु नानु-
प्रवेशः ॥ ७६ ॥

महत्त्व . . . न आदि का स्वरूप भिन्न-भिन्न है।
अतः उनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता; इस कारण यह
हेतु का पूर्वोक्त हेतुओं में समावेश होना सम्भव नहीं है।

विवेचन—रूप और रस महत्त्व हैं और दोनों का स्वभाव
भिन्न-भिन्न है। रूप चक्षु-प्राप्य होता है, रस त्रिधा-प्राप्य है।
स्वरूप भेद होता है वही तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता।
तादात्म्य सम्बन्ध के बिना स्वभाव हेतु में समावेश नहीं हो सकता।
इसके अनिमित्त रूप रस आदि महत्त्व माय-माय उत्पन्न होते हैं।
साय-माय उत्पन्न होने वालों में कार्य कारणमात्र सम्बन्ध नहीं होता।
इस कारण महत्त्व हेतु किसी भी अन्य हेतु में अन्वर्ग्य नहीं हो
जा सकता। उसे अलग हेतु स्वीकार करना चाहिये।

हेतुओं के उदाहरण

ध्वनिः परिणतिमान्, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्,
प्रयत्नानन्तरीयकः स परिणतिमान् यथा स्तम्भः । यो वा
परिणतिमान् स न प्रयत्नानन्तरीयको यथा दान्ध्वेयः ।
प्रयत्नानन्तरीयकश्च ध्वनिस्तस्मात् परिणतिमानिति व्याप्य
साध्येनाविरुद्धस्योपलब्धिः साधर्म्येण बंधर्म्येण च ॥ ७७

अर्थ—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता
है, जो प्रयत्न से उत्पन्न होता है वह अनित्य होता है, जैसे स्तम्भ
अथवा जो अनित्य नहीं होता वह प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होता है।
दान्ध्वेय । शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होता है, अतः वह अनित्य है।
यह (विधिसाधक) साध्य में अविरुद्ध व्याप्य को उपलब्धि सम्बन्ध
व्यतिरेक द्वारा बनाई गई है।

विशेष—यहाँ अनुमान क शेष व्यवस्था बताया गया है —
 'रिक्तनिमान्' माध्य है, 'प्रयत्नानन्तरीयकत्वं' हेतु है, 'सम्भ' माध्य
 हान् और 'बान्धव्य' वैयर्थ्य हान् है 'सम्भ' प्रयत्नानन्तरीयक
 ना है' कथन है, 'अतः' वह परिणतिमान् है' निगमन है ।

जो अन्य देश में रहे वह व्याप्य करलाना है और जो अधिक
 न में रहे वह व्यापक करलाना है । जैसे परिणतिमान् मेघ, इन्द्र-
 पुत्र और घट-घट आदि में रहता है पर 'प्रयत्नानन्तरीयकत्वं' सिर्फ
 घट आदि में रहता है मेघ आदि प्राकृतिक पदार्थों में नहीं रहता ।
 कारण प्रयत्नानन्तरीयकत्वं और परिणतिमान् व्यापक है । यहाँ
 ऐतिम्य माध्य में अविरुद्ध प्रयत्नानन्तरीयकत्वं रूप व्याप्य हेतु
 बलवत्ति है ।

अविरुद्ध कार्योपक्रमि

अस्त्यत्र गिरिनिकुञ्जे धनञ्जयो, भूमगमुपलम्भात्,
 तं कार्यस्य ॥ ७० ॥

अर्थ—इन गिरिनिकुञ्ज में अग्नि है, क्योंकि भूम है वह
 केरुट कार्योपक्रमि का उदाहरण ।

विशेष—यहाँ अग्नि माध्य से अविरुद्ध भूम-कार्य-की उप-
 षेप है ।

अविरुद्ध कार्योपक्रमि

मविप्यति धर्षं,
 रणस्य ॥ ७१ ॥

अर्थ—वस्तु-समूह अनेकान्तरूप है क्योंकि एकान्त की अनुपलब्धि है । —

विवेचन—यहाँ अनेकान्तरूपता साध्य में विरुद्ध भाव की अनुपलब्धि है । अतः यह विरुद्धभावमात्रानुपलब्धि है ।

विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि

विरुद्ध व्यापकानुपलब्धिर्व्याप्त्या अस्त्यत्र छाया, एतानुपलब्धेः ॥ १०८ ॥

अर्थ—यहाँ छाया है, क्योंकि उष्णता की अनुपलब्धि है ।

विवेचन—यहाँ छाया-साध्य से विरुद्ध व्यापक उष्णता की अनुपलब्धि होने से यह विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि है ।

विरुद्ध सहचरानुपलब्धि

विरुद्ध सहचरानुपलब्धिर्व्याप्त्या—अस्त्यस्य मिथ्याज्ञान सम्यग्दर्शनानुपलब्धेः ॥ १०९ ॥

अर्थ—इस पुरुष में मिथ्याज्ञान है, क्योंकि सम्यग्दर्शन अनुपलब्धि है । —

विवेचन—यहाँ मिथ्याज्ञान-साध्य से विरुद्ध सहचर सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि होने से यह विरुद्ध सहचरानुपलब्धि है ।

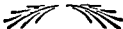
इस प्रकार हमें हुए तथा इसी प्रकार के अन्य हेतुओं की प्रतीति का एक सुगम ज्ञान यह है—

(१) मध्यमे पहले माध्य को देखो । माध्य यदि सदभाव रूप ... हेतु को विधिमापक और अभावरूप हो तो निषेधसाधक समझो ।

(२) इसी प्रकार हेतु यदि सदभाव रूप है तो उसे उपलब्धि भी और निषेधरूप हो तो अनुपलब्धि समझो ।

(३) माध्य और हेतु—दोनों यदि सदभावरूप हों या दोनों विधिरूप हों तो हेतु को 'अविरुद्ध' समझना चाहिए । दोनों में कोई एक सदभावरूप हो और एक अभाव रूप हो तो 'विरुद्ध' समझना चाहिए ।

(४) अन्त में माध्य और हेतु का परस्पर कैसा सम्बन्ध है, सो विचार करो । हेतु यदि माध्य में उत्पन्न होता है तो कार्य होगा, माध्य को उत्पन्न करता है तो कारण होगा, पूर्वभासी है तो पूर्वचर होगा, बाद में होता है तो उत्तरचर होगा । अगर दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है तो व्याप्य या व्यापक होगा । दोनों माध्य-साथ रहते हों तो सहचर होगा ।



आप्त के भेद

स च द्वेधा—लौकिको लोकोत्तरश्च ॥ ६ ॥

{लौकिको जनकादिः, लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादिः॥ ७॥

धर्म—आप्त दो प्रकार के होते हैं—(१) लौकिक अप्त और
(२) लोकोत्तर अप्त।

पिता आदि लौकिक अप्त हैं और तीर्थकर आदि लोकोत्तर
अप्त हैं ॥

विवेचन—लोकव्यवहार में पिता माता आदि प्रान्तीय
होते हैं अतः ये लौकिक अप्त हैं और मोक्षमार्ग के उपदेश में तीर्थ
गणेश आदि प्रामाणिक होते हैं इसलिए ये लोकोत्तर अप्त हैं।

मीमांसक लोग सर्वज्ञ नहीं मानते हैं। उनके मन के अनुसार
कोई भी पुरुष, कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। उनमें कोई कहे कि मैं
सर्वज्ञ नहीं हो सकता तो आपके आगम भी सर्वज्ञोक्त नहीं हैं। कि
कहें प्रमाण कैसे माना जाय ? तब ये कहते हैं—“वेद इमां ६
आगम हैं और वह न सर्वज्ञोक्त है न असर्वज्ञोक्त है। वह हिमी ४
उपदेश नहीं है, किमी ने उसे बनाया नहीं है। वह अनादिकाल से
ही चला आ रहा है। इसी कारण वह प्रमाण है।” मीमांसकों ने
इस मन का विरोध करने हुए यहाँ यह प्रतिपादन किया गया है कि
आज्ञोक्त होने से ही कोई वचन प्रमाण हो सकता है, अन्यथा नहीं।

८ अकारादिः पौद्गलिको वर्णः ॥ ६ ॥

वर्णानामन्योन्यापेक्षायां निरपेक्षा मंडतिः पदम्,
दानां तु वाक्यम् ॥ १० ॥

अर्थ—वर्ण, पद और वाक्य रूप बचन कहलाता है ।

भाषावर्गणा से बने हुए अ आदि वर्ण कहलाते हैं ॥

परस्पर मापेक्ष वर्णों के निरपेक्ष समूह को पद कहते हैं और
परस्पर मापेक्ष पदों के निरपेक्ष समूह को वाक्य कहते हैं ॥

विशेषण—वर्ण, पद और वाक्य ये मिलकर बचन कहलाते
हैं । अ, आ, आदि स्वर्णों को तथा क, ख, ग, आदि व्यञ्जनों को वर्ण
कहते हैं । पद वर्ण भाषावर्गणा नामक पौद्गलिक दृश्य में बनते हैं ।
इन वर्णों के वाग्व्यतिक्रम से पद बनता है और पदों के मेल से
वाक्य बनता है ।

वर्णों का मेल जब ऐसा होता है कि हममें किसी और वर्ण
की मिलाने की आवश्यकता न रहे और मिले हुए बड़ी बड़ी कितनी
अर्थ का बोध करावे तभी उन्हें पद कह सकते हैं, निगमक वर्ण-समूह
को पद नहीं कह सकते । जैसे 'महावीर' यह वर्ण-समूह पर है, क्योंकि
हमें वर्धमान भगवान् के अर्थ का बोध होता है और इस अर्थबोध
के लिए और किसी भी वर्ण की आवश्यकता नहीं है । इसी प्रकार
वर्णों का बड़ी समूह वाक्य कहलाता है, जो वाक्य अर्थ का बोध कराता
है और अर्थ के बोध के लिए अन्य किसी पद की आवश्यकता न
होती है ।

वाक्य अर्थबोधक कैसे है ?

स्वाभाविकमाधर्म्यमप्याभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः ॥ ११ ॥

आप्त के भेद

५ च द्वेधा—लौकिको लोकोत्तरश्च ॥ ६ ॥

लौकिको जनकादिः, लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादिः ॥ ७ ॥

अर्थ—आप्त दो प्रकार के होते हैं—(१) लौकिक आप्त हैं
(२) लोकोत्तर आप्त ।

पिता आदि लौकिक आप्त हैं और तीर्थकर आदि लोकोत्तर आप्त हैं ॥

विवेचन—लोकव्यवहार में पिता माता आदि प्राप्ति होते हैं अतः वे लौकिक आप्त हैं और मोक्षमार्ग के उपदेश में तीर्थकर गणधर आदि प्रामाणिक होते हैं इसलिए वे लोकोत्तर आप्त हैं ।

मीमांसक लोग सर्वज्ञ नहीं मानते हैं । उनके मत के अनुसार कोई भी पुरुष, कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता । उनमें कोई बड़े हिंसा सर्वज्ञ नहीं हो सकता तो आपके आगम भी सर्वज्ञोक्त नहीं हैं । सि उन्हें प्रमाण कैसे माना जाय ? तब वे कहते हैं—“वेद इमां मू आगम हैं और वह न सर्वज्ञोक्त हैं न असर्वज्ञोक्त हैं । वह किसी व उपदेश नहीं है, किसी ने उसे बताया नहीं है । वह अनादिकाल में ही बना आ रहा है । इसी कारण वह प्रमाण है ।” मीमांसकों के इस मत का विरोध करते हुए यशोवर्धन प्रतिपादन किया गया है कि प्राप्ति होने में ही कोई वचन प्रमाण हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

वचन का वचन

१. वर्णपदवाक्यान्मकं वचनम् ॥ ८ ॥

अर्थ—स्वाभाविक शक्ति और संकेत के द्वारा शब्द, पदों का बोधक होता है।

विवेचन—शब्द को सुनकर उसमें पदार्थ का बोध क्यों होता है ? इस प्रश्न का यहाँ समाधान किया गया है। शब्द के पदार्थ का ज्ञान होने के दो कारण हैं—(१) शब्द की स्वाभाविक शक्ति और (२) संकेत।

(१) स्वाभाविक शक्ति—जैसे ज्ञान में क्षेत्र पदार्थ का बोध कराने की स्वाभाविक शक्ति है, अथवा सूर्य में पदार्थों को प्रकाशित कर देने की स्वाभाविक शक्ति है, उसी प्रकार शब्द में अभिव्यक्त पदार्थ का बोध कराने की शक्ति है। इस शक्ति को योग्यता अथवा वाचक शक्ति भी कहते हैं।

संकेत—प्रत्येक शब्द में, प्रत्येक पदार्थ का बोध कराने की शक्ति विद्यमान है। किन्तु एक ही शब्द यदि संसार में समस्त पदार्थों का वाचक बन जायगा तो लोक-व्यवहार नहीं चलेगा। लोक-व्यवहार के लिए यह आवश्यक है कि अमुक शब्द अमुक अर्थ का वाचक हो। ऐसी नियतता लाने के लिये संकेत की आवश्यकता है।

इस प्रकार स्वाभाविक सामर्थ्य और संकेत के द्वारा शब्द से पदार्थ का ज्ञान होता है।

अर्थप्रकाशकत्वमस्य स्वाभाविकं प्रदीपवत्, पदार्थोऽस्यार्थत्वे पुनः पुरुषगुणदोषावन्मरतः ॥ १२ ॥

अर्थ—जैसे दीपक स्वभाव में पदार्थों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार शब्द स्वभाव में पदार्थों को प्रकाशित करता है; किन्तु सत्यता और असत्यता पुरुष के गुण-दोष पर निर्भर है।

निवेदन—दीपक के समीप अच्छा या बुरा जो भी पदार्थ होगा उसीको दीपक प्रकाशित करेगा उसी प्रकार राज्य बना हुआ प्रयोग किये जाने पर पदार्थ का बोध करा देगा, चाहे वह पदार्थ वास्तविक हो या अवास्तविक हो, वास्तविक हो वा सत्य हो। तात्पर्य यह है कि राज्य का कार्य पदार्थ का बोध कराना है, जगमें सदाई और मुटाई के बन्ना गुणों और दोषों पर निर्भर है। बन्ना यदि गुणवान् होगा तो शारिरिक ज्ञान सत्य होगा, बन्ना यदि दोषी होगा तो शारिरिक ज्ञान मिथ्या होगा।

(
राज्य की प्रकृति

महेश्वर्यं च निर्विधिप्रतिरोधाम्पराश्वर्यमभिधानः सत्स-
मर्गमनुगच्छति ॥ १३ ॥

अर्थ—राज्य, महेश्वर विधि और निषेध के द्वारा अपने वास्तव-
मर्थ का प्रतिपादन करता हुआ सत्समर्गों के रूप में प्रकृत होता है।

सत्समर्गों का अर्थ

एकत्र यस्तुन्यैकैकधर्मैर्व्यनुयोगवशाद्विरोधेन व्यस्तयोः
सस्तयोश्च विधिनिषेधयोः सम्पन्नया स्यात्पञ्चराट्कृतः सत्समा-
न्यप्रयोगः सप्तमङ्गी ॥ १४ ॥

उत्तर—अन्यक पदार्थ में अनन्त धर्म पाये जाते हैं, इससे यों कहें कि अनन्त धर्मों का विद्वद्भी पदार्थ कहलाता है। इन धर्मों में से किसी एक धर्म को लेकर कोई पूछे कि, अमुक धर्म क्या है ? या अमन् है ? या मन् और अमन् उभय क्या है ? इत्यादि। वे इन प्रश्नों के अनुसार उस एक धर्म के विषय में मान प्रसार के उत्तर देने पड़ेंगे। अतएव उत्तर के साथ 'स्यात्' (कथयितुं) शब्द बूझ होगा। कोई उत्तर विधि क्या होगा—अर्थात् कोई उत्तर ही में ही क्या नहीं में होगा। विन्तु विधि और निषेध में विरोध नहीं होना चाहिये। इस प्रकार मान प्रसार के उत्तरों को—अर्थात् बचन प्रयोगों को मानभंगी कहते हैं।

मानभंगी में हमें यह ज्ञान होना चाहिए कि पदार्थ में धर्म किस प्रकार हो सकते हैं।

मान भंग

तत्र या—स्यादस्यैव मर्यादमिति विधिरूपतया प्रश्नो महः ॥ १५ ॥

स्यादस्यैव मर्यादमिति निषेधरूपतया द्वितीया महः ॥ १६ ॥

स्यादस्यैव स्यादस्यैव क्रमता विधिनिरूपकतया तृतीया ॥ १७ ॥ {

स्यादस्यैव स्यादस्यैव मर्यादमिति विधिरूपतया चतुर्थी ॥ १८ ॥

स्यादस्यैव स्यादस्यैव मर्यादमिति निषेधरूपतया पञ्चमी विधिरूपतया षष्ठ्या ॥ १९ ॥

स्यादस्यैव स्यादस्यैव मर्यादमिति निषेधरूपतया सप्तमी विधिरूपतया अष्टम्या ॥ २० ॥

स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति कमनो
विधिनिषेधकल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च मन्त्रम
रिति ॥ २१ ॥

१ कथं—स्यान् (कथञ्चिन्) मद्य पदार्थ हैं, इस प्रकार विधि
की कल्पना से पढ़ना भङ्ग होता है ॥

२ कथञ्चिन् मद्य पदार्थ नहीं हैं, इस प्रकार निषेध की कल्पना
से दूसरा भङ्ग होता है ॥

३ कथञ्चिन् मद्य पदार्थ हैं, कथञ्चिन् नहीं हैं, इस प्रकार क्रम से
विधि और निषेध की कल्पना से तीसरा भङ्ग होता है ॥

४ कथञ्चिन् मद्य पदार्थ अवलम्ब्य हैं, इस प्रकार एक साथ विधि-
निषेध की कल्पना से चौथा भङ्ग होता है ॥

५ कथञ्चिन् मद्य पदार्थ हैं और कथञ्चिन् अवलम्ब्य हैं, इस
प्रकार विधि की कल्पना से और एक साथ विधि-निषेध की कल्पना से
पंचम भङ्ग होता है ॥

६ कथञ्चिन् मद्य पदार्थ नहीं हैं और कथञ्चिन् अवलम्ब्य हैं, इस
प्रकार निषेध की कल्पना से और एक साथ विधि-निषेध की कल्पना
से छठा भङ्ग होता है ॥

७ कथञ्चिन् मद्य पदार्थ हैं, कथञ्चिन् नहीं हैं, कथञ्चिन् अवलम्ब्य
हैं, इस प्रकार क्रम से विधि-निषेध की कल्पना से और युगपद् विधि-
निषेध की कल्पना से सातवाँ भङ्ग होता है ।

विशेष—सम्बन्धी के स्वरूप में बताया गया है कि एक ही

धर्म के विषय में मात्र प्रकार के वचन-प्रयोग को सप्रभंगी कहते हैं। यहाँ मात्र प्रकार का वचन-प्रयोग करके सप्रभंग को ही स्पष्ट किया गया है। घट पदार्थ के एक अस्तित्व धर्म को लेकर सप्रभंगी न प्रकार बनती है—

(१) स्यात् अस्ति घटः (२) स्यात् नास्ति घटः (३) स्यात् अस्ति नास्ति घटः (४) स्यात् अवक्तव्यो घटः (५) स्यात् अस्ति वा वक्तव्यो घटः (६) स्यात् नास्ति-अवक्तव्यो घटः (७) स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यो घटः ।

यहाँ अस्तित्व धर्म को लेकर कहीं विधि, कहीं निषेध और कहीं विधि-निषेध दोनों क्रम में और कहीं दोनों एक साथ, घट बनाये गये हैं। यहाँ यह प्रश्न होता है कि घट यदि है तो नहीं है ? घट नहीं है तो है कैसे ? इस विरोध को दूर करने के लिये ही 'स्यात्' (कथंचित्) शब्द सषट्क साथ जोड़ा गया है। 'स्यात्' का अर्थ है, किसी अपेक्षा में। जैसे—

(१) स्यात् अस्ति घटः—घट कथंचित् है—अर्थात् स्वप्न, स्वप्नेष्ट, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से घट है।

(२) स्यात् नास्ति घटः—घट कथंचित् नहीं है—अर्थात् स्वप्न, स्वप्नेष्ट, परकाल और परभाव में घट नहीं है।

(३) स्यात् अस्ति नास्ति घटः—घट कथंचित् है, कथंचित् नहीं है—अर्थात् घट में स्व द्रव्यादि में अस्तित्व और पर द्रव्यादि में नास्तित्व है। यहाँ क्रम से विधि और निषेध की विवक्षा की गई है।

(४) स्यात् अवक्तव्यो घटः—घट कथंचित् अवक्तव्य है—यहाँ विधि और निषेध दोनों की एक साथ विवक्षा होती है नप दोनों के

एक साथ बनाने वाला कोई शब्द न होने से घट को अवगम्य कहना पता है ।

(४) केवल विधि और एक साथ विधि-निषेध की विवक्षा करने में 'घट है और अवगम्य है' यह पाँचवों भंग बनता है ।

(६) केवल निषेध और एक साथ विधि-निषेध-दोनों की विवक्षा में 'घट नहीं है और अवगम्य है' यह छठा भंग बनता है ।

(७) क्रम से विधि-निषेध-दोनों की और एक साथ विधि-निषेध-दोनों की विवक्षा में 'घट है, नहीं है, और अवगम्य है' यह सातवों भंग बनता है ।

प्रथम भंग के प्रकार का निराकरण

विधिप्रधान एव च्वनिरिति न माधु ॥ २२ ॥

निषेधस्य तस्मादप्रतिपक्षिप्रसक्तेः ॥ २३ ॥

प्रधान्येनैव च्वनिस्तमभिधत्ते इत्यप्यमरं ॥ २४ ॥

स्वचित् कदाचित् कथञ्चित्प्रधान्येनाप्रतिपक्षस्य तस्या-
धिधान्यानुपपत्तेः ॥ २५ ॥

परः—शब्द प्रधानरूप में विधि को ही प्रतिपादन करता है
ए कथन टाक नहीं ॥

क्योंकि शब्द में निषेध का ज्ञान नहीं हो सकेगा ॥

शब्द निषेध को अप्रधान रूप में ही प्रतिपादन करता है, वह
यन भी निस्सार है ।

क्योंकि जो वस्तु कहीं, कभी, किसी प्रकार प्राप्ति न हो
नहीं जानी गई है वह अप्रधान रूप में नहीं जानी जा सकती ॥

विवेचन—समसंगी का स्वरूप बताने हुए शब्द को निषेध
निषेध आदि का वाचक कहा गया है । यहाँ 'शब्द विधि का होवना
है' इस एकान्त का स्पष्टन किया गया है । 'इस स्पष्टन का प्रत्यक्ष
रूप में समझना सुगम होगा:—

एकान्तवादी—शब्द विधि का ही वाचक है, निषेध का
वाचक नहीं है ।

अनेकान्तवादी—आपका कथन ठीक नहीं है । ऐसा बताने
में तो निषेध का ज्ञान शब्द में होगा ही नहीं ।

एकान्तवादी—शब्द से निषेध का ज्ञान अप्रधान रूप में ही
है, प्रधान रूप में नहीं ।

अनेकान्तवादी—जिस वस्तु को कभी कहीं प्रधानरूप में
अमली तौर पर—नहीं जाना उसे अप्रधान रूप में जाना नहीं जा
सकता । अतः निषेध यदि कभी कहीं प्रधान रूप में नहीं जाना जा
तो अप्रधान रूप में भी वह नहीं जाना जा सकता । जो अमली केनने
को नहीं जानता वह पंचाश केमरी को कैसे जानेगा ? अतएव शब्द
को विधि का ही वाचक नहीं मानना चाहिए ।

द्वितीय मंत के एकान्त का निराकरण

निषेधप्रधान एव शब्द इत्यपि प्रागुक्तन्यायात्
स्तम् ॥ २६ ॥

अर्थ—शब्द प्रधान रूप से निषेध का ही वाचक है, यह न कथन भी पूर्वोक्त न्याय से स्पष्टित हो गया ।

विवेचन—शब्द यदि प्रधान रूप से निषेध का ही वाचक माना तो उसमें विधि का ज्ञान कभी नहीं होगा । विधि अप्रधान रूप शब्द में मालूम होती है, यह कथन भी मिथ्या है, क्योंकि त्रिमे रूप से कभी कहीं नहीं जाना उसे से गौण रूप में भी नहीं आ सकते ।

तृतीय भंग के एकांत का निराकरण

कमादुभयप्रधान एवायमित्यपि न साधीयः ॥ २७ ॥

अस्य विविनिषेधान्यतरप्रधानत्वानुभवस्याऽप्यशक्य-
त्वात् ॥ २८ ॥

अर्थ—शब्द क्रम से विधि-निषेध का (तीसरे भंग का) ही रूप से वाचक है, ऐसा कहना भी समीचीन नहीं है ॥

क्योंकि शब्द अकेले विधि का और अकेले निषेध का प्रधान वाचक है, इस प्रकार होने वाला अनुभव मिथ्या नहीं है ॥

विवेचन—शब्द सिर्फ तीसरे भंग का वाचक है, इस एकान्त को स्पष्टित किया गया है, क्योंकि शब्द तीसरे भंग की तरह और द्वितीय का भी वाचक है, ऐसा अनुभव होता है ।

चतुर्थ भंग के एकांत का निराकरण

युगपद्विध्यात्मनोऽर्थस्याऽवाचक एवासाविति च न
म् ॥ २९ ॥

तस्यावक्तव्यशब्देनाप्यवाच्यत्वप्रसङ्गात् ॥ ३० ॥

अर्थ—शब्द एक मात्र विधि-निषेध रूप पदार्थ का वाचक ही है, ऐसा कहना उचित नहीं है ॥

क्योंकि ऐसा मानने से पदार्थ अवक्तव्य शब्द में अवक्तव्य नहीं होगा ॥

विशेषण—शब्द चतुर्थ अंग अर्थात् अवक्तव्यता को ही प्रमाण मानना है, ऐसा मान लेने पर पदार्थ सर्वथा अवक्तव्य जायगा; किन्तु वह अवक्तव्य शब्द में भी नहीं कहा जा सकेगा। केवल चतुर्थ अंग का वाचक शब्द नहीं माना जा सकता ।

पंचम अंग के प्रकार का निराकरण

विध्यात्मनोऽर्थस्य वाचकः मधुमयात्मनो युगपदवा
एव सं इत्येकान्तोपि न कान्तः ॥ ३१ ॥

निषेधात्मनः सह द्वयात्मनोऽर्थस्य वाचकत्वावाचक
स्यामपि शब्दस्य प्रतीयमानत्वात् ॥ ३२ ॥

अर्थ—शब्द विधि रूप पदार्थ का वाचक होता है उभयात्मक-विधि निषेध रूप पदार्थ का युगपत् अवचक ही है, यही पंचम अंग का ही वाचक है; ऐसा एकान्त मानना ठीक नहीं है ॥

क्योंकि शब्द निषेध रूप पदार्थ का वाचक और युगपदवाचक (विधि-निषेध रूप) पदार्थ का अवचक है, ऐसी भी प्रतीति होती है ॥

विशेषण—शब्द केवल पंचम भंग का ही वाचक है, ऐसा मानना मिथ्या है क्योंकि यह 'स्वात् नास्ति अवलम्ब्य' रूप छठे भङ्ग का वाचक भी प्रतीत होता है ।

एक भङ्ग के पक्षों का निराकरण

निषेधात्मनोऽर्थस्यैव वाचकः मन्त्रभयात्मनो युगपद-
वाचक एवायमित्यवधारणं न रमणीयम् ॥ ३३ ॥

इतरथाऽपि संवेदनात् ॥ ३४ ॥ १ ।

अर्थ—शब्द निषेध रूप पदार्थ का वाचक होता हुआ विधि-
निषेध रूप पदार्थ का युगपत् अववाचक ही है, ऐसा एकान्त निश्चय
रना ठीक नहीं है ॥

क्योंकि अन्य प्रकार से भी शब्द पदार्थ का वाचक माना
जा है ॥

विशेषण—शब्द मिकं नास्ति अवलम्ब्यता रूप छठे भङ्ग का
वाचक है ऐसा एकान्त भी मिथ्या है क्योंकि शब्द प्रथम, द्वितीय
वि भङ्गों का भी वाचक प्रतीत होता है ।

सगुणभङ्ग के पक्षों का निराकरण

क्रमक्रममाभ्यामुभयस्यभावस्य भावस्य वाचकधाश-
यः प्वनिर्नान्यथेत्यपि मिथ्या ॥ ३५ ॥

विधिमात्रादि प्रधानतयाऽपि तस्य प्रसिद्धेः प्रतीतिः ॥ ३६ ॥

अर्थ—शब्द क्रम से उभयरूप और युगपत् उभयरूप पदार्थ

ही प्रश्न इसलिए ही संकट हैं कि उसे जिज्ञासाएँ सात ही हो
हैं । जिज्ञासाएँ सात इसलिए होती हैं कि उसे मन्देह मान ही हो ।
मन्देह मान इसलिए होते हैं कि मन्देह के प्रत्येक घर्म सात प्रकार के ही हो सकते हैं ।

सप्तमही के दो भेद

इयं सप्तमंगी प्रतिमंगं सकलादेशस्वभावा विकलादेश
स्वभावा च ॥ ४३ ॥

अर्थ—यह सप्तमंगी प्रत्येक मंग में दो प्रकार की है—सकलादेश
स्वभाव वाली और विकलादेश स्वभाव वाली ।

विवेचन—जो सप्तमंगी प्रमाण के अधीन होती है वह सकलादेश
स्वभाव वाली कहलाती है और जो नय के अधीन होती है वह
विकलादेश स्वभाव वाली होती है ।

सकलादेश का स्वरूप

प्रमाणप्रतिपक्षानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिर्भेद-
वृत्तिशायान्प्रात् अभेदोपचारात् वा योगपथेन प्रतिपादकं इति
सकलादेशः ।

अर्थ—प्रमाण में मानी हुई अज्ञान धर्मों वाली वस्तु को, काल
आदि के द्वारा, अभेद की प्रणाली में अथवा अभेद का कारण
करके, एक भाव प्रतिपादन करने वाला वस्तु सकलादेश
कहलाता है ॥

विशेषतः—वस्तु में अनन्त धर्म हैं, यह बात प्रमाण से सिद्ध । अतएव किसी भी एक वस्तु का पूर्ण रूप से प्रतिपादन करने के एक अनन्त शब्दों का प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि एक शब्द एक धर्म का प्रतिपादन कर सकता है । मगर ऐसा करने से लोक व्यवहार नहीं चल सकता । अतएव हम एक शब्द का प्रयोग करते हैं । वह एक शब्द मुख्य रूप से एक धर्म का प्रतिपादन करता है, और शेष सबे हुए धर्मों को उस एक धर्म से अभिन्न मान लेते हैं । इस एक शब्द से एक धर्म का प्रतिपादन हुआ और उससे अभिन्न होने के कारण शेष धर्मों का भी प्रतिपादन होगया । इस उपाय से एक ही शब्द एक साथ अनन्त धर्मों का अर्थात् सम्पूर्ण वास्तु का प्रतिपादक हो जाता है । इसी को सकलान्वेश कहते हैं ।

शब्द द्वारा साधार्थ रूप से प्रतिपादित धर्म से, शेष धर्मों का अभेद प्राप्त आदि द्वारा होता है । काल आदि आठ हैं—(१) काल (२) आत्मरूप (३) अर्थ (४) सम्बन्ध (५) उपकार (६) गुणोद्देश (७) समर्थ (८) शब्द ।

मान लीजिये, हमें अस्तित्व धर्म से अन्य धर्मों का अभेद करना है तो वह इस प्रकार होगा—जीव में जिन बातों में अग्नि है उसी काल में अन्य धर्म हैं अतः काल की अपेक्षा अस्तित्व धर्म से अन्य धर्मों का अभेद है । इसी प्रकार शेष बातों की अपेक्षा भी अभेद सम्भवता चाहिये । इसीको अभेद की प्रधानता कहते हैं । दृष्टार्थिक नष्ट को मुख्य और पर्यायार्थिक नष्ट को गौण करने से अभेद की प्रधानता होती है । जब पर्यायार्थिक नष्ट मुख्य और दृष्टार्थिक नष्ट गौण होता है तब अनन्त गुण बाह्य में अभिन्न नहीं हो सकते । अतएव इन गुणों में अभेद का उपकार करना पड़ता है । इस प्रकार अभेद की प्रधानता और अभेद के उपकार से

शम रूप शक्ति में नहीं। यौद्धों के हम मन का नहीं व्यवहार है।

पौष्टों की मान्यता के अनुसार पूर्व क्षण, उत्तर क्षण उत्पन्न करना है और उत्तर क्षण, पूर्व क्षण के आकार का ही है। इस मान्यता के अनुसार घट के प्रथम क्षण में अग्नि उत्पन्न होता है अतएव वहाँ तदुत्पत्ति होने पर भी अग्नि उत्पन्न क्षण को नहीं जानना यह तदुत्पत्ति में व्यभिचार है। इसी प्रकार जल-वृद्धि में व्यभिचार है। जल में प्रतियोगित होने वाला चन्द्रमा, आकाश-वृद्धि में व्यभिचार है। जल-वृद्धि में प्रतियोगित होने वाला चन्द्रमा, आकाश-वृद्धि में व्यभिचार है। जल-वृद्धि में प्रतियोगित होने वाला चन्द्रमा, आकाश-वृद्धि में व्यभिचार है।

यदि यह कहो कि यह सब जड़ पदार्थ हैं, इमजिन ३
जानने तो पूर्वकालीन घट-ज्ञान में उत्तरकालीन घट-ज्ञान उत्पन्न हो
दे और वह तदाकार भी है और ज्ञान-रूप भी है, फिर भी वह उत्त-
रकालीन घट-ज्ञान पूर्वकालीन घट-ज्ञान को नहीं जानता (घट को ही
जानता है), अतएव ज्ञानरूपता होने पर भी तदुत्पत्ति और तदा-
कारता में व्यभिचार आता है।

इसमें यह सिद्ध हुआ कि तदुत्पत्ति और तदाकारता अलग-अलग या भिन्न-द्वय भी प्रतिनियत परार्थ के ज्ञानमें कारण नहीं हैं, कि ज्ञान कारण कम है उपयोगराम में है वयवस्था होगी है।

पंचम परिच्छेद

प्रमाण के विषय का निरूपण



प्रमाण का विषय

तस्य विषयः सामान्यविशेषाद्यनेकान्तात्मकं वस्तु ॥१॥

अर्थ—सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्मों वाली वस्तु प्रमाण का विषय है।

विवेचन—सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्मों का समूह ही वस्तु है। अनेक पदार्थों में एकसौ प्रतीति उत्पन्न करने वाला और इन्हीं एक ही राष्ट्र का वाक्य बनाने वाला धर्म सामान्य कहलाता है। जैसे अनेक गावों में 'यह भी गौ है, यह भी गौ है', इस प्रकार का ज्ञान और वाक्य प्रयोग कराने वाला 'गोत्व धर्म' सामान्य है। इससे विपरीत एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में भेद कराने वाला धर्म विशेष कहलाता है, जैसे ऊन्हीं अनेक गावों में नीलापन, लालाई, सफेदी आदि। सामान्य और विशेष जैसे वस्तु के स्वभाव हैं वही प्रकार और भी अनेक धर्म हमके स्वभाव हैं। ऐसी अनेक स्वभाव वाली वस्तु ही प्रमाण का विषय है।

सामान्य-विशेषरूपता का समर्थन

अनुगतविशिष्टाकारप्रतीतिविषयत्वाद्, प्राचीनोचर-

कारपरित्यागोपादानावस्थानस्वरूपपरिणत्याज्यक्रियानाम
घटनाश्च ॥ २ ॥

अर्थ—सामान्य विरोध रूप पदार्थ प्रमाण का विषय है, कि वह अनुगत प्रतीति (महग ज्ञान) और विगिष्टाकार इन्हीं भेद-ज्ञान) का विषय होता है। दूसरा हेतु—क्योंकि पूर्व पदार्थ नारा रूप, उत्तर पदार्थ के उत्पन्न रूप और दोनों पदार्थों में ही नि रूप परिणति में अर्थक्रिया की शक्ति देखी जाती है।

विशेष—जिन पदार्थों में एक दृष्टि में हमें महगता—महगता की प्रतीति होती है उन्हीं पदार्थों में दूसरी दृष्टि में विमहगता—विरोध की प्रतीति भी होने लगती है। दृष्टि में भेद होने पर भी उन तक पदार्थ में महगता और विमहगता न हो तब तक उन्हीं पदार्थों में नहीं हो सकती। इसमें यह निश्चय है कि पदार्थ में महगता की प्रतीति उत्पन्न करने वाला सामान्य है और विमहगता की प्रतीति उत्पन्न करने वाला विरोध भर्म भी है।

इसके अनिमित्त पदार्थ पदार्थ रूप में उत्पन्न होता है, वह होता है, फिर भी मुख्य रूप में अपनी स्थिति कायम रहता है। इसमें उत्पन्न, उत्पन्न और धीरे धीरे हो कर अपनी क्रिया कायम है। वही उत्पन्न-रूप पदार्थ की विरोधरूपता निश्चय करने हैं और प्रतीति सामान्य रूपता निश्चय करने हैं। इन दोनों हेतुओं से यह स्पष्ट होता है कि सामान्य और विरोध दोनों ही वास्तविक भर्म हैं।

सामान्य का निश्चय

सामान्य द्विचकार—निश्चयसामान्यपूर्णतासामान्य ॥ १ ॥

पर्यायस्तु क्रममावी, यथा-तत्रैव सुखदुःखादि ॥ ८ ॥

अर्थ—विरोध भी दो प्रकार का है—गुण और पर्याय ॥

महभावी अर्थात् सदा साथ रहने वाले धर्म को गुण कहते हैं।

जैसे—वर्तमान में विद्यमान कोई ज्ञान और भावी ज्ञान का परिणाम को योग्यता।

एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणाम को पर्याय कहते हैं।
जैसे आत्मा में सुख-दुःख आदि ॥

विवेचन—मदैव द्रव्य के साथ रहने वाले धर्मों को गुण कहते हैं। जैसे आत्मा में ज्ञान और दर्शन सदा रहते हैं, इनका कभी-बिना नहीं होता। अतएव यह आत्मा के गुण हैं। रूप, रस, गंध इत्यादि मदैव पुद्गल के साथ रहते हैं—पुद्गल में एक क्षण भर के लिए है कभी न्यारे नहीं होते, अतः रूप आदि पुद्गल के गुण हैं। उपद्रव्य को भौति अनादि अनन्त होते हैं।

पर्याय इसमें विपरीत है। वह उत्पन्न होती रहती है और नष्ट भी होती रहती है। आत्मा जब मनुष्य-भव का त्याग कर देव-भव जानी है तब मनुष्य पर्याय का विनाश होजाता है और देव पर्याय का उत्पत्ति हो जाती है। एक बन्धु की एक पर्याय का नाश होने पर उसके स्थान पर दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है अतएव पर्याय को क्रम मावी कहा है।

पष्ठ परिच्छेद

प्रमाण के फल का निरूपण



प्रमाण के फल की व्याख्या

पत्रप्रमाणेन प्रसाध्यते तदस्य फलम् ॥ १ ॥

अर्थ—प्रमाण के द्वारा ओ साथ आय—निष्पन्न किया ज.,
प्रमाण का फल है।

फल के भेद

तद् द्विविधम्—अनन्तर्येण पारम्पर्येण च ॥ २ ॥

अर्थ—फल दो प्रकार का है—अनन्तर (मात्तान्) फल,
पारम्पर्य फल (परोक्ष फल)

अर्थ-विरण

तत्रानन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम् ॥ ३ ॥

पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत्फलमोदासीन्यम् ॥ ४ ॥

शेषप्रमाणानां पुनरुपादानहानोपेक्षापुद्गलः ॥ ५ ॥

अर्थ—अज्ञान की निवृत्ति होना सब प्रमाणों का मात्तान्
है।

केवलज्ञान का परम्परा कल उदासीनता है ॥

शेष प्रमाणों का परम्पराकृत प्रदण करने की बुद्धि, तब बुद्धि और उचित-बुद्धि होना है ॥

विवेचन—प्रमाण के द्वारा किसी वस्तु को जानने के लिये अज्ञान को निवृत्ति हो जाना है वह अनन्तर कल या मरण के है। मनिज्ञान भूतज्ञान, प्रत्यक्ष, परीक्षा आदि सभी ज्ञानों का मूल। कल अज्ञान का हट जाना ही है।

अज्ञान-निवृत्ति रूप मात्मान कल के कल को परम्परा का कहने हैं क्योंकि वह अज्ञाननिवृत्ति से उत्पन्न होता है। परम्परा का मूलज्ञानों का समान नहीं है। केवली भगवान केवल ज्ञान में मूल वस्तु को जानने हैं, पर न तो उन्हें किसी वस्तु को प्रदण करने की बुद्धि होती है, न किसी वस्तु को त्यागने की ही। वीराग होने के लिये सभी वस्तुओं पर वक्तव्य उदासीनता का भाव रहता है। अतः केवलज्ञान का परम्परा कल उदासीनता ही है।

केवलज्ञान के अनिश्चित शेष सादृश्यवहिक प्रत्यक्ष, विवेक या समीक्षा प्रत्यक्ष और पराप्त प्रमाणों का परम्परा कल समान है। वही वस्तुओं को प्रदण करने का भाव, त्याग वस्तुओं को त्यागने। भाव और उचितगीय वस्तुओं पर उचित करने का भाव होने है प्रमाणों का परम्परा कल है।

प्रमाण और कल का भेद-भेद

तन्त्रमात्रतः व्याप्यमविष्यं च, प्रमाणकल्पान्वयः
दृष्टव्यः ॥ ६ ॥

फल से 'प्रमाण-फलत्वान्यथानुपपत्ति' रूप हेतु में व्यभिचार का
ऐसा नहीं सोचना चाहिए ॥

क्योंकि परस्पर फल भी प्रमाता के साथ तादात्म्य सम्पन्न
होने के कारण प्रमाण से अभिन्न है ॥

क्योंकि प्रमाण रूप से परिणत आत्मा का ही फल का
परिणमन होना, अनुभव मिष्ट है ॥

जो जानना है वही वस्तु को ग्रहण करना है, वही त्याग
है, वही उपेक्षा करना है, ऐसा सभी व्यवहार-कुराव लोगों को बत
प्रब होना है ॥

यदि ऐसा न माना जाय तो स्व और पर के प्रमाण के बीच
की व्यवस्था नष्ट हो जायगी ॥

विवेचन—प्रमाण का फल, प्रमाण से कथयित्व भिन्न अर्थ
है, क्योंकि वह प्रमाण का फल है। जो प्रमाण से भिन्न-अभिन्न नहीं
होता वह प्रमाण का फल नहीं होता, जैसे घट आदि। इस प्रकार है
अनुमान-प्रयोग में दूसरों ने प्रमाण के परस्पर-फल से व्यभिचार
दिया। उन्होंने कहा—'परस्पर फल भिन्न-अभिन्न नहीं है किन्तु भी
वह प्रमाण का फल है, अतः आपका हेतु ग्राह्य है।' इसका उत्तर यह
है कि परस्पर फल भी व्यवस्था भिन्न नहीं है किन्तु वह
भिन्न भिन्न अभिन्न है। अतएव हमारा हेतु ग्राह्य नहीं है।

उदा—ज्वाला—बुद्धि आदि परस्पर फल अभिन्न है ॥

उत्तर—यह प्रमाता में प्रमाण और परस्पर फल का
सम्बन्ध होने में ।

शंका—एक प्रमाणा में दोनों का सादृश्य कैसे है ?

प्रमाण—जिस आत्मा में प्रमाण होता है वहीमें जगत्
होता है अर्थात् जो आत्मा ब्रह्म को जानता है वही आत्मा में
दण्ड आदि करने की बुद्धि उत्पन्न होती है । एक के जानने में दूसरे
में दण्ड या त्याग करने की भावना उत्पन्न नहीं होती, इससे प्रमाण
और जल का एक ही प्रमाणा में सादृश्य मिट्ट होता है ।

शंका—ऐसा न माने तो दानि क्या है ?

प्रमाण—प्रथम तो यह कि सभी लोगों का ऐसा ही अनुभव
होता है, यतः ऐसा न मानने में अनुभव विरोध होगा । इसके अति
रिक्त ऐसा न मानने से प्रमाण-फल की व्यवस्था ही नष्ट हो जायगी ।
दण्ड के जानने में जिनका उक्त ब्रह्म का महत्त्व कर लेगा वही
ब्रह्मज्ञान द्वारा जानने में देवदत्त समस्त त्याग कर देगा । अर्थात् एक
में प्रमाण होगा और दूसरे को इसका फल मिल जायगा ।

इस व्यवस्था में बचने के लिए प्रमाण के दायता फल
भी प्रमाण में कथंविन्व अभिन्न ही मानना चाहिए और ऐसा
न मानने में हेतु में व्यवधार भी नहीं आता ।

शुभः दीप परिष्कृत

अज्ञाननिवृत्तिरूपेण प्रमाणादभिधेन सादृश्यक्षेत्र
अस्त्वानेकान्त इति भासाहनीयम् ॥

कवञ्चित्तस्यापि प्रमाणाद् भेदेन व्यवस्थानाद् ॥१२॥

साप्यमापनमायेन प्रमाणात्सप्तोः प्रतीदमानाद् ॥१३॥

फल से 'प्रमाणकलत्वान्यथानुपपत्ति' रूप हेतु में व्यभिचार आता
ऐसा नहीं सोचना चाहिए ॥

क्योंकि परम्परा फल भी प्रमाता के साथ तादात्म्य सम्पन्न
होने के कारण प्रमाण से अभिन्न है ॥

क्योंकि प्रमाण रूप से परिणत आत्मा का ही फल रूप
परिणमन होना, अनुभव सिद्ध है ॥

जो जानता है वही वस्तु को ग्रहण करता है, वही त्याग
दे, वही उपेक्षा करता है, ऐसा सभी व्यवहार-कुराज लोगों को अनु-
भव होता है ॥

यदि ऐसा न माना जाय तो स्व और पर के प्रमाण के फल
की व्यवस्था नष्ट हो जायगी ॥

विवेचन—प्रमाण का फल, प्रमाण से कथंचित् भिन्न-अभिन्न
है, क्योंकि वह प्रमाण का फल है। जो प्रमाण से भिन्न-अभिन्न नहीं
होता वह प्रमाण का फल नहीं होता, जैसे घट आदि। इस प्रकार है
अनुमान-प्रयोग में दूसरों ने प्रमाण के परम्परा-फल से व्यभिचार
दिया। उन्होंने कहा—'परम्परा फल भिन्न-अभिन्न नहीं है फिर भी
वह प्रमाण का फल है, अतः आपका हेतु गदोप ही।' इसका उत्तर यह
दिया गया है कि परम्परा फल भी मन्वया भिन्न नहीं है किन्तु कर्तृ-
विन् भिन्न अभिन्न है। अतएव हमारा हेतु गदोप नहीं है।

उदा—जगत्काल-बुद्धि आदि परम्परा फल अभिन्न है।

समाधान—एक प्रमाता में प्रमाण और परम्परा फल
तादात्म्य हीन है।

प्रमाणं हि करणार्थं साधनं, स्वपरव्यवसिति साधनं
तत्तत्त्वाद् ॥ १५ ॥

स्वपरव्यवसितिक्रियारूपाज्ञाननिवृत्त्याख्यं फलं
साध्यम्, प्रमाणनिष्पाद्यत्वाद् ॥ १६ ॥

अर्थ—प्रमाण से सर्वथा अभिन्न अज्ञाननिवृत्ति रूप मात्र
फल से हेतु में व्यभिचार आता है, ऐसी शका नहीं करनी चाहिए ॥

क्योंकि वह—मात्तान् फल भी प्रमाण से कयंचिन् भिन्न है—
सर्वथा अभिन्न नहीं है ॥

कयंचिन् भेद इमलिप है कि प्रमाण और फल साध्य और
और साधन रूप से प्रतीत होते हैं ॥

प्रमाण करण रूप साधन है, क्योंकि वह स्व-पर के निश्चय
में साधकतम है ॥

स्व-पर का निश्चय होना रूप अज्ञाननिवृत्ति फल साध्य है,
क्योंकि वह प्रमाण से उत्पन्न होता है ॥

विवेचन—पहले परम्परा फल को प्रमाण से सर्वथा भिन्न
मान कर हेतु में दोष दिया गया था, यहाँ मात्तान् फल को सर्वथा
अभिन्न मानकर हेतु में व्यभिचार दोष दिया गया है। तात्पर्य यह
कि मात्तान् फल, प्रमाण का फल है पर प्रमाण से कयंचिन् भिन्न
अभिन्न नहीं है। इस प्रकार साध्य के अभाव में हेतु रहने से व्यभि-
चार दोष है।

किन्तु हेतु में मात्तान् फल में व्यभिचार दोष नहीं है, क्योंकि

अज्ञान की भाँति आत्मानु पक्ष भी प्रमाण से कथंचित् भिन्न और शैत्य अभिन्न है ।

शंका—आपने ज्ञान को प्रमाण माना है, अज्ञान निवृत्ति को शान् पक्ष माना है और इन दोनों में कथंचित् भेद भी कहते हैं । ज्ञान में और अज्ञाननिवृत्ति में क्या भेद है ? यह दोनों एक ही एव होते हैं ?

समाधान—ज्ञान ही अज्ञान-निवृत्ति नहीं है परन्तु ज्ञान से अज्ञान-निवृत्ति होती है । अतः ज्ञान-रूप प्रमाण साधन है और अज्ञान निवृत्ति रूप फल साध्य है ।

प्रमाणा और प्रतिक्रिया का भेदाभेद

प्रमातुरपि स्वपरव्यवसितिक्रियायाः कथञ्चिद् भेदः ॥ १७ ॥

कर्तृक्रिययोः साध्यसाधकभावेनोपलम्भात् ॥ १८ ॥ १

कर्ता हि साधकः स्वतन्त्रत्वात्, क्रिया तु साध्या
धृतिर्विर्वर्त्यत्वात् ॥ १९ ॥

अर्थ—प्रमाणा (ज्ञाता) में भी स्व-पर का निधय होना रूप ज्ञान का कथंचित् भेद है ॥

क्योंकि कर्ता और क्रिया में साध्य-साधकभाव पाया जाता ॥

स्वतन्त्र होने के कारण कर्ता साधक है और कर्ता द्वारा प्राप्त होने के कारण क्रिया साध्य है ॥

विशेषण—यहाँ कर्ता (प्रमाणा) और क्रिया (प्रतिक्रिया) का

कथंचित् भेद बताया गया है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार क्रिया में कर्ता कथंचित् भिन्न है, क्योंकि दोनों में माध्य-माधक है। जहाँ माध्य-माधक सम्बन्ध होता है वहाँ कथंचित् भेद होतै जैसे देवदत्त में और जाने में।

कर्ता माधक है और क्रिया माध्य है।

एकान्त का अर्थ

न च क्रिया क्रियावतः सकाशादभिर्भव मिर्भव च
प्रतिनियतक्रियाक्रियावद्भावमङ्गप्रमङ्गात् ॥ २० ॥

अर्थ—क्रिया, क्रियावान् (कर्ता) में न एकान्त भिन्न है और न एकान्त अभिन्न है। एकान्त भिन्न या अभिन्न माननेसे भिन्न 'क्रिया-क्रियावत्' का अभाव हो जायगा।

विवेचन—योग भोग क्रिया और क्रियावान् में एकान्त में मानते हैं और बीच दोनों में एकान्त अभेद मानते हैं। यदि दोनों एकान्त भिन्ना हैं। यदि क्रिया और क्रियावान् में एकान्त भेद माना जाय तो यद् 'क्रिया इस क्रियावान् की है' ऐसा नियत सम्बन्ध नहीं मिलेगा। मान लीजिये, देवदत्ता क्रियावान्, गमन क्रिया कर रहा है। मान वह क्रिया देवदत्त में इनकी भिन्न है तबही गमन में भिन्न है। तब वह क्रिया गमन की न होकर देवदत्त की ही क्यों कर जायगा? किन्तु वह क्रिया देवदत्त की ही कहलाती है इसमें बहसिद होता है कि क्रिया देवदत्त (क्रियावान्) में कथंचित् अभिन्न है।

इसमें विद्वान्, बीड़ों के कथनानुसार अगर क्रिया और क्रियावान् में एकान्त अभेद मान लिया जाय तो भी 'यद् क्रिया इस

अर्थ—अतएव धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष रूप पुरुषार्थ मिद्धि करने वाला प्रमाण और प्रमाण-फल का व्यवहार बाल्य ही स्वीकार करना चाहिये ।

आभासों का निरूपण



प्रमाणस्य स्वरूपादिचतुष्टयाद्विपरिणतं तदामासम् ॥२३॥

अर्थ—प्रमाण के स्वरूप, मंख्या, विषय और फल में भिन्न गीत स्वरूप आदि स्वरूपाभास, मंख्याभास, विषयाभास और फलाभास कहलाते हैं ।

विवेचन—प्रमाण का जो स्वरूप पड़न बनपाया है वह भिन्न स्वरूप, स्वरूपाभास है । प्रमाण के भेद में भिन्न प्रमाण भेद मानना मंख्याभास है । प्रमाण के पूर्वांश विषय में भिन्न विषय मानना विषयाभास है और पूर्वांश फल में भिन्न फल मानना फलाभास है ।

स्वरूपाभास का अर्थ

अप्रानान्मकानान्मप्रकाशकस्वभावावभासकनिर्विण्ण-
कममांशाः प्रमाणस्य स्वरूपाभासाः ॥ २४ ॥

यथा मयिकर्ताद्यस्वर्गं शिदितपरानरमायकज्ञान-दुर्लभ-
विषयं य-मंगुषानप्यवभासाः ॥ २५ ॥

अर्थ—अज्ञान-अज्ञान-प्रकाशक स्वभावप्रकाशक निर्विण्ण-
ज्ञान, और अमांशः प्रमाण के स्वरूपाभास हैं ॥

यथा-अम्युषरेषु गन्धर्वनगरज्ञानं, दुःखे सुखज्ञानञ्च ॥२॥

अर्थ—जो ज्ञान वास्तव में सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष न हो किन्तु सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष मरीखा जान पड़ता हो वह सांख्यवहारिक प्रत्यक्षताभास है ॥

जैसे—मेघों में गन्धर्व-नगर का ज्ञान होना और दुःख सुख का ज्ञान होना ॥

विवेचन—सांख्यवहारिक प्रत्यक्षताभास का लक्षण स्पष्ट है। यहाँ 'मेघों में गन्धर्व-नगर का ज्ञान', यह उदाहरण इन्द्रिय निर्णय सांख्यवहारिक प्रत्यक्षताभास का उदाहरण है, क्योंकि यह इन्द्रियों होता है 'और दुःख में सुख का ज्ञान' यह उदाहरण अनिन्द्रियनिर्णय सांख्यवहारिक प्रत्यक्षताभास का उदाहरण है क्योंकि यह ज्ञान मन में उत्पन्न होता है।

पारमार्थिक प्रत्यक्षताभास

पारमार्थिकप्रत्यक्षमिव यदाभामते तदाभामम् ॥२६॥

यथा-शिवारण्यस्य राजर्षेरमंग्यातदीपममुद्रेषु समशीत-
ममुद्रज्ञानम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जो ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष न हो किन्तु पारमार्थिक प्रत्यक्ष मरीखा कहकर उसे पारमार्थिक प्रत्यक्षताभास कहते हैं ॥

जैसे—शिव नामक राजर्षि का अमंग्यात दीप-ममुद्रों में से ज्ञान और ममुद्रों का ज्ञान ॥

विवेचन—शिव राजर्षि को विभक्त्यादि ज्ञान उत्पन्न हुआ है

अर्थ—समान पदार्थ में 'यद् यदी है' ऐसा ज्ञान होना और उसी पदार्थ में 'यद् उसके समान है' इत्यादि ज्ञानों को प्रत्यभिज्ञानाभाम कहते हैं ॥

जैसे—एक साथ उत्पन्न होने वाले बालकों में विपरीत इन हो जाना ॥

विवेचन—देवदत्त के समान दूसरे व्यक्ति को देखकर 'यद् यदी देवदत्त है' ऐसा ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञानाभाम है। तथापि यह है कि सदृशता में एकता की प्रतीति होना एकत्वप्रत्यभिज्ञानाभाम है और एकता में सदृशता प्रतीत होना सादृश्यप्रत्यभिज्ञानाभाम है। ॥

तर्काभास

असत्यामपि व्याप्ती तदवभासस्तर्काभासः ॥ ३५ ॥

म श्यामो मैत्रतनयत्यादित्यत्र यावान्मैत्रतनयः स श्याम इति ॥ ३६ ॥

अर्थ—व्याप्ति न होने पर भी व्याप्ति का आभास होना तर्काभास है।

जैसे—यह व्यक्ति काला है, क्योंकि मैत्र का पुत्र है; यहाँ पर 'जो जो मैत्र का पुत्र होता है वह काला होता है' ऐसी व्याप्ति मान्य होना ॥

विवेचन—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं, पर यहाँ वास्तव में व्याप्ति न हो यहाँ व्याप्ति की प्रतीति होना तर्काभास है। जैसे—

अत्यंगयस्मि आइंचे पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं मणसा वि ण पत्थए ॥

अर्थात् सूर्य अस्त होजाने पर और पूर्व दिशा में उठने के
मे पहले सब प्रकार के आहार आदि को मन में इच्छा भी न करे

रात्रि-भोजन का निषेध करने वाले इस आगम से जैनों के
रात्रि में भोजन करना चाटिए' यह प्रतिज्ञा बाधित होजाती है ।

लोकनिराहत

लोकनिराहतमाध्यधर्मविशेषणो यथा-न पारमार्थिक
प्रमाणप्रमेयव्यवहारः ॥ ४४ ॥

अर्थ- 'प्रमाण और प्रमाण में प्रतीत होने वाले पदार्थ
आदि पदार्थ का कल्पित है' यह लोकनिराहतमाध्यधर्मविशेषण का
भाग है ।

विवेचन-लोक में प्रमाण द्वारा प्रतीत होने वाले सब पदार्थ
सत्य माने जाते हैं और ज्ञान भी वास्तविक माना जाता है, अतः
इतकी कल्पनिकता लोक-धर्मादि में बाधित होने के कारण यह
प्रतिज्ञा लोकबाधित है ।

अन्यधर्मविशेषण

अन्यधर्मविशेषणमाध्यधर्मविशेषणो यथा-नानि प्रमा
वर्गिन्द्रकं प्रमाणम् ॥ ४५ ॥

अर्थ- 'प्रमाण, प्रमेय का नहीं जानता' यह अन्यधर्म वि
शेषण माध्यधर्मविशेषण का भाग है ।

अर्थ—हेत्वाभास तीन हैं—(१) असिद्ध हेत्वाभास (२) विरुद्ध हेत्वाभास (३) अनैकान्तिक हेत्वाभास ।

विवेचन—जिसमें हेतु का लक्षण न हो फिर भी जो हेतु मरीखा प्रतीत होता हो वह हेत्वाभास है । उसके उदाहरण तीन हैं—

असिद्ध हेत्वाभास

यस्यान्यथानुपपत्तिः प्रमाणेन न प्रतीयते सोऽसिद्धः ॥४८॥
स द्विविध उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च ॥ ४९ ॥

उभयासिद्धो यथा—परिणामी शब्दः साधुपत्त्यात् ॥ ४९० ॥

अन्यतरासिद्धो यथा—अनेकनास्तरया, विज्ञानेन्द्रिया-
युनिरोपलक्षणमरणरहितत्वात् ॥ ४९१ ॥

अर्थ—जिसकी व्याप्ति प्रमाण में निहित न हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं ॥

वह दो प्रकार का है—उभयासिद्ध और अन्यतरासिद्ध ।

‘उभय’ परिणामी है, क्योंकि साधुपत्ति है, वही साधुपत्ति ही उभयासिद्ध है ।

‘अन्य’ अनेकन है, क्योंकि वे ज्ञान, इन्द्रिय और साधु की समस्त सब मृग्य में रहित हैं वही अन्यतरासिद्ध हेतु है ।

विवेचन—जो हेतु किसी को प्रत्यक्ष ही अथवा किसी के सिद्ध नहीं माना वह असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है । या वह सिद्ध न हो वह उभयासिद्ध होता है । जिसकी शक्ति का प्रमाण

नित्यता और सर्वथा अनिगमता में विरुद्ध कथयित्व नित्य होना है वही प्रत्याभिमानवान् होता है । अतः यह विरुद्ध हेत्वाभास है ।

अनैकान्तिक हेत्वाभास

यस्यान्यथानुपपत्तिः सन्दिग्यते मौर्झैकान्तिकः ॥५५॥
स द्वेया निर्णीतविपक्षवृत्तिकः सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकश्च ॥
निर्णीतविपक्षवृत्तिको यथा-नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् ॥
संदिग्धविपक्षवृत्तिको यथा-विवादापन्नः पुरुषः सर्वज्ञो
न भवति वक्ष्यत्वात् ॥५७॥

अर्थ—जिम हेतु की अन्यथानुपपत्ति (व्याप्ति) में सन्देह हो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाना है ॥

अनैकान्तिक हेत्वाभास दो प्रकार का है—निर्णीतविपक्षवृत्तिक और सन्दिग्ध विपक्षवृत्तिक ।

शब्द नित्य है क्योंकि वह प्रमेय है, यहाँ प्रमेयत्व ही निर्णीतविपक्षवृत्तिक है ।

विवादापन्न पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वक्ता है; यहाँ वक्तात्व हेतु सन्दिग्ध विपक्षवृत्तिक है ।

विवेचन—जहाँ साध्य का अभाव हो वह विपक्ष कहलाना है । और विपक्ष में जो हेतु रहता हो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।
जिम हेतु का विपक्ष में रहना निश्चित हो वह निर्णीतविपक्षवृत्तिक है
और जिम हेतु का विपक्ष में रहना संदिग्ध हो वह संदिग्धविपक्षवृत्तिक अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाना है ।

विवेचन—माध्यम्य दृष्टान्त में माध्य और मायन का भिन्न रूप में अभित्य होना चाहिए । जिस दृष्टान्त में माध्य का, मायन का या दोनों का अभित्य न हो, या अभित्य अनिश्चित हो अतः माध्यम्य दृष्टान्त का ठीक तरह प्रयोग न किया गया हो वह माध्यम्य दृष्टान्ताभास कहलाता है ।

(१) माध्य-विकलदृष्टान्ताभास

तत्रार्थारूपेयः शब्दोऽमूर्तत्वात्, दुःखमिति माध्यम्य-
विकलः ॥ ६० ॥

अर्थ—शब्द अर्थारूपेय है, क्योंकि अमूर्त है, जैसे दुःख ।
यहाँ दुःख उदाहरण माध्यविकल है क्योंकि उसमें अर्थारूपेयत्व मायन नहीं रहता ॥

(१) साधनधर्मविकल दृष्टान्ताभास

तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव हेतौ परमाणुमिति
साधनधर्मविकलः ॥ ६१ ॥

अर्थ—इसी प्रतिज्ञा में और इसी हेतु में 'परमाणु' का उदाहरण साधनविकल है ।

विवेचन—शब्द अर्थारूपेय है क्योंकि अमूर्त है, जैसे परमाणु ;
यहाँ परमाणु में अमूर्तता हेतु नहीं पाया जाता, क्योंकि परमाणु मूर्त है । अतः यह साधनविकल दृष्टान्ताभास हुआ ।

(१) उपपत्तिधर्मविकल दृष्टान्ताभास

अर्थ—पूर्वोक्त अनुमान में कलश का उदाहरण देना उभय-
वैयर्थ्य है।

विशेषण—कलश पुरुषकृत और मूर्त है अतः उसमें अपौ-
होयत्व साध्य और अमूर्तत्व हेतु दोनों नहीं हैं।

(७) सदिग्धसाध्यधर्म दृष्टान्ताभास

रागादिमानयं यक्त्वान्, देवदत्तवदिति संदिग्ध-
साध्यधर्मा ॥ ६३ ॥

अर्थ—यह पुरुष राग आदि बाना है, क्योंकि बता है, जैसे
विद्वान्। यहाँ देवदत्त दृष्टान्त सदिग्धसाध्यधर्म है।

विशेषण—जिस दृष्टान्त में साध्य का रहना संदिग्ध हो वह
दृष्टान्त सादृश्यसाध्यधर्म कहलाता है। देवदत्त में राग आदिक साध्य
के रहने में संदेह है अतः देवदत्त दृष्टान्त संदिग्धसाध्यधर्म है।

(८) सदिग्धसाधनधर्म दृष्टान्ताभास

मरणधर्माऽयं रागादिमत्त्वान्मैत्रवदिति संदिग्धसाधन-
धर्मा ॥ ६४ ॥

अर्थ—‘यह पुरुष मरणशील है’ क्योंकि रागादिबासा है,
जैसे मैत्र। यहाँ मैत्र दृष्टान्त सदिग्धसाधनधर्म है।

विशेषण—मैत्र नामक पुरुष में रागादित्व हेतु के रहने में
सन्देह है अतः मैत्र उदाहरण संदिग्धसाधनधर्म दृष्टान्ताभास है।

(१) मंदिष्यउभयमदृष्टान्ताभ्याम्

नायं सर्वदर्शी रागादिमत्त्वान्मुनिविशेषवदित्युपपद्यमानः ।

अर्थ—यह पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि रागादि बाधा जैसा अमुक मुनि । यह मंदिष्य-उभय दृष्टान्ताभ्याम् है । क्योंकि वह मुनि में सर्वज्ञता का अभाव और रागादिमत्त्व दोनों का ही मंदः है ।

(२) अनन्यव दृष्टान्ताभ्याम्

रागादिमान् विवक्षितः पुरुषो वस्तुत्वादिएष्टान्ताभ्याम्
त्यनन्यवः ॥ ६६ ॥

अर्थ—विवक्षित पुरुष रागादि बाधा है, क्योंकि वक्तृ है, कोइ इष्ट पुरुष ।

विवेचन—जिस दृष्टान्त में अन्यव दृष्टान्ति न बन सके अनन्यव दृष्टान्ताभ्याम् कहते हैं । यहाँ इष्ट पुरुष में रागादिमत्त्व वस्तुत्व-मोक्षो मोक्षर रहने पर भी जो जो 'बन्ना होता है वह रागादि बाधा होता है' एसी अन्यव दृष्टान्ति नहीं बनता । क्योंकि वह भगवान् बन्ना है पर रागादि बाधा नहीं है । अतः 'इष्ट पुरुष' दृष्टान्त अनन्यव दृष्टान्ताभ्याम् है ।

(३) अपरर्शितान्यव दृष्टान्ताभ्याम्

अनित्यः शुद्धः कृतकत्वात्, परवदित्यपरर्शितान्यवः ।

अर्थ—अनित्य अर्थात् है, क्योंकि कृतक है, अतः वह । परवदित्यपरर्शितान्यव दृष्टान्ताभ्याम् है ।

(१) निरीक्षणनिरेक दृष्टान्ताभावः

अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यत्कृतकं तन्नित्यं क्व
उक्ताशम्, इति विपरीतव्यतिरेकः ॥ ७६ ॥

अर्थ—शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है। जो कृतक होता है वह निराश होता है, जैसे आकाश। यहाँ आकाश दृष्टान्त विपरीत व्यतिरेक दृष्टान्ताभाव है क्योंकि यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति विपरीत बताई गई है। अर्थात् माध्य के अभाव में माधन का अभाव बता दिया मो माधन के अभाव में माध्य का अभाव बता दिया है।

उपनयनाभाव और निगमनाभाव

उक्तलक्षणोपलक्षणेनोपनयनिगमनयोर्वचने तदामात्रां (=

यथा परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, यः कृतकः स
परिणामी यथा कुम्भः, इत्यत्र परिणामी च शब्दः कृतकः
कुम्भ इति च ॥ ८१ ॥

तस्मिन्नेव प्रयोगे तस्मात् कृतकः शब्द इति, तस्मात्
परिणामी कुम्भ इति ॥ ८२ ॥

अर्थ—उपनय और निगमन का पहले जो लक्षण कहा गया है उसका उल्लंघन करके उपनय और निगमन दोनों में उपनयनाभाव और निगमनाभाव हो जाते हैं ॥

गर्भ है, जो हराह होना है वह परिणामी होना है जैसे कुम्भ; यहाँ 'गर्भ परिणामी है' या 'कुम्भ कृतक है' इस प्रकार कहना ॥

और इसी अनुमान में 'इसलिए शब्द कृतक है' अथवा 'परिणाम पर परिणामी है' ऐसा कहना निगमनाभास है ॥

निवेदन—पक्ष में हेतु का दोहराना उपनय कष्ट लाता है । हेतु को न दोहरा कर किसी और को दोहराना उपनयभास है । जैसे वक्तु शब्दात् 'गर्भ परिणामी है' यहाँ पक्ष में माध्य को दोहराया गया है और 'कुम्भ कृतक है' यहाँ पर मवक्ष (दृष्टान्त) में हेतु दोहराया गया है, अतः यह दोनों उपनयभास है ।

पक्ष में माध्य का दोहराना निगमन है । और पक्ष में माध्य को न दोहरा कर, किसी को किसी में दोहरा देना निगमनाभास है । जैसे यहाँ पक्ष (शब्द) में एक जगह कुम्भक हेतु को दोहरा दिया है और दूसरी जगह मवक्ष (कुम्भ) में माध्य को दोहराया है : 'इस लिए शब्द परिणामी है' ऐसा कहना निगमन होना किन्तु 'इसलिए शब्द कृतक है' 'इसलिए कुम्भ परिणामी है' ऐसा कहना निगमनाभास है ।

आगमाभास

आगमामाम का उदाहरण

यथामेकलकन्यकायाः कृते, तालहितालयोर्मूले मुलनाः
पिण्डखर्जुराः सन्ति, त्वरितं गच्छत गच्छत बालकाः ॥ ८४ ॥

अर्थ—जैसे रेवा नदी के किनारे, ताल और इलायची वृक्षों के
नीचे पिण्ड खर्जूर पड़े हैं—नइको ! जाओ, जल्दी जाओ ॥

विवेचन—वामनव में रेवा नदी के किनारे पिण्डखर्जूर नहीं हैं,
फिर भी कोई व्यक्ति बच्चों को बहकाने के लिए झूठमूठ ऐसा बड़बता
है। इस कथन को सुनकर बच्चों को पिण्डखर्जूर का ज्ञान होकर
आगमामाम है।

प्रमाण सत्याभास

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्यानं तस्य संख्या
ऽऽमासम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—एक मात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, इत्यादि प्रमाण की
मिथ्या संख्या करना संख्याभास है।

विवेचन—वामनव में प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद
हैं, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। इन भेदों में विपरीत एक, दो,
तीन, चार आदि भेद मानना संख्याभास या भेदाभास है। कौन
किनने प्रमाण मानने हैं यह भी पहले ही बताया जा चुका है।

विशेषाभास

सामान्यमेव, विशेष एव, तद् द्रव्यं वा स्वतन्त्रमित्यादि-
न्यस्य विवक्षामामः ॥ ८६ ॥

सातवाँ परिच्छेद

नयों का विवेचन



नय का स्वरूप

नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविपर्ययकृतस्यार्थस्यांशस्तदि-
तरांशोदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ॥ १ ॥

अर्थ - श्रुतज्ञान द्वारा जाने हुए वक्ष्य का एक धर्म, अन्य धर्मों को गौण करके, जिस अभिप्राय से जाना जाता है, वक्ता का यह अभिप्राय नय कहलाता है।

विवेचन—श्रुतज्ञान रूप प्रमाण अनन्त धर्म वाली वस्तु को प्रदण्य कहता है। उन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को जानने वाला ज्ञान नय कहलाता है। नय जब वस्तु के एक धर्म को जानता है सब शेष रहे हुए धर्म भी वस्तु में विद्यमान तो रहते ही हैं किन्तु उन्हें गौण कर दिया जाता है। इस प्रकार किसी एक धर्म को मुख्य करके उसे जानने वाला ज्ञान नय है।

नयामास का स्वरूप

स्वामिश्रेतादंशादिनगंशापलापी पुनर्नयामासः ॥ २ ॥

अर्थ—घटने घसीष्ट अंश के अनिश्चित अन्य घटने का अनन्त ज्ञाने वाला नयामास है।

द्रव्याधिक नय के भेद

आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रेधा ॥ ६ ॥

अर्थ—द्रव्याधिक नय तीन प्रकार का है—(१) नैगम स्व
(२) संग्रह नय और (३) व्यवहार नय ।

नैगमनय

धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपमर्जनभावेन परि-
वक्षणं स नैकगमो नैगमः ॥ ७ ॥

(सत्त्वैतन्यमान्मनीति धर्मयोः ॥ ८ ॥

(वस्तु पर्यायवद्द्रव्यमिति धर्मिणोः ॥ ९ ॥

क्षणमेकं सुखी विषयामकनजीव इति धर्मधर्मिणोः ॥ १० ॥

अर्थ—दो धर्मों की, दो धर्मियों की और धर्म-धर्मि की प्रत्यक्ष
और गौण रूप में विवेक्षा करना, इस प्रकार अनेक भावों में बात
का बोध कराने वाला नय नैगमनय कहलाता है ॥

दो धर्मों का प्रधान-गौण भाव—त्रैमे आत्मा में मत्त्व के
युक्त वैतन्य है ॥

दो धर्मियों का प्रधान-गौणभाव—त्रैमे पर्याय ब्रह्मा इति
बन्तु कहलाता है ॥

धर्म-धर्मि का प्रधान गौणभाव—त्रैमे विषयामक और सु-
ख सुखी होता है ॥

विवेचन—दो धर्मों में से एक धर्म की मुख्य रूप से विवेक

प्रकार दूसरे अंश का अरलाव करने से यह नशामान हो गया है। वेदान्त दर्शन परसंग्रहाभाम है क्योंकि वह एकान्त रूप में मत्ता की ही तत्त्व मानना और विशेषों को मिथ्या बतनाता है । *

अपर समग्रनय

द्रव्यत्वादीनि अवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्विभेदं
गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः ॥ १६ ॥

धर्माधर्माकारकालपुद्गलजीवद्रव्याणामेक्यं द्रव्यत्व
भेदादित्यादिर्यथा ॥ २० ॥

अर्थ—द्रव्यत्व पर्यायत्व आदि अपर सामान्यों को मीळ करने वाला और उन अपर सामान्यों के भेदों में पड़ामीनता रख वाला नय अपर संग्रहनय कहलाता है ॥

जैसे—धर्म, अधर्म, आकार, काल, पुद्गल और जीव इत्यादि सब एक हैं क्योंकि सब में एक द्रव्यत्व विद्यमान है ॥

विशेषण—असौ द्रव्यों में समान रूप से रहने वाला द्रव्यत्व अपर सामान्य है । अपर संग्रह नय, अपर सामान्य को प्रियय करता है । अतः इसकी दृष्टि में द्रव्यत्व एक होने में सभी द्रव्य एक हैं ।

अपरसंग्रहाभाम

द्रव्यत्वादिकं प्रतिज्ञानानस्तद्विशेषाभिद्वयानस्तदामामः ॥

यथा द्रव्यन्यमेव तत्त्व, तत्त्वान्तराभूतानां द्रव्याणामनु-
लम्बेः ॥ २२ ॥

अर्थ—द्रव्यत्व आदि अपरमामान्यो को स्वीकार करने वाला और उनके भेदों का निषेध करने वाला अभिप्राय अपरमग्रह-न्याभास है ।

जैसे—द्रव्यत्व ही वास्तविक है, उसमें निम्न भर्म आदि द्रव्य-द्वैतत्व नहीं होते ॥

विवेचन—द्रव्यत्व आदि सामान्यो को अपर मग्रहनय स्वी-
कार करता है पर वह उनके भेदों का-भर्म आदि द्रव्यो क निषेध नहीं
करता; यह अपरमग्रह न्याभास अपर सामान्य क भेदों का निषेध
करता है, इसलिए न्याभास है ।

व्यवहारनय

मंग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमग्रहणं पेना-
भिसन्धिना क्रियते न व्यवहारः ॥ २३ ॥

यथा यत् सत् तद् द्रव्यं पर्याप्तं वा ॥ २४ ॥

कूल, सामान्य में भेद करना व्यवहार नय का कार्य है। उदाहरणार्थ—
संप्रहृतय ने मत्ता रूप अभेद माना, व्यवहार उमके दो भेद करता
है—द्रव्य और पर्याय ।

व्यवहारनयाभाम

यः पुनरपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यव-
हारमासः ॥ २५ ॥

यथा—चार्वाकदर्शनम् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो नय द्रव्य और पर्याय का अवास्तविक भेद स्वी-
कार करता है वह व्यवहारनयाभाम है ॥

जैसे—चार्वाक दर्शन ॥

विशेषण—द्रव्य और पर्याय का वास्तविक भेद मानना व्यवहार न
है और मिथ्या भेद मानना व्यवहारनयाभाम है । चार्वाक दश
वास्तविक द्रव्य और पर्याय के भेद को स्वीकार नहीं करता किन्तु
अवास्तविक भूत-चतुष्टय को स्वीकार करता है । अतः चार्वाक दर्शन
(नामिक मत) व्यवहार नयाभाम है ।

पर्यायार्थिकनय के भेद

पर्यायार्थिकश्चतुर्धा—अनुसूत्रः शब्दः समभिरुद्ध एवं-
भूतश्च ॥ २७ ॥

अर्थ—पर्यायार्थिकनय चार प्रकार का है—(१) अनुसूत्र
(२) शब्द (३) समभिरुद्ध और (४) एवभूत ।

अनुसूत्रनय

अनु—वर्तमानक्षणम्यापि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्र-
पक्षमिप्रायः अनुसूत्रः ॥ २८ ॥

शब्दनय

कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः ॥३२॥

यथा वभूव भवति भविष्यति सुमेरुस्तित्यादिः ॥३३॥

अर्थ—काल आदि के भेद से शब्द के वाच्य अर्थ में भेद मानने वाला नय शब्दनय कहलाता है ॥

जैसे—सुमेरु था, सुमेरु है, और सुमेरु होगा ॥

विवेचन—शब्दनय और आने के समभिस्तुत तथा पूर्वपक्ष नय शब्द को प्रगत मानकर उमके वाच्य अर्थ का निरूपण करते हैं इसलिए इन तीनों को शब्दनय कहते हैं ।

काल, काक, लिंग और यचन के भेद से पदार्थ में भेद मानने वाला नय शब्दनय कहलाता है । उदाहरणार्थ—सुमेरु था, सुमेरु है और सुमेरु होगा, इन तीन वाक्यों में एक सुमेरु का स्थित सम्बन्धी अस्तिन्व बनाया गया है, पर यहाँ काल का भेद है शब्द नय सुमेरु को तीन रूप स्वीकार करना है ।

शब्दनयभाष्य

तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदामासः

यथा वभूव भवति भविष्यति सुमेरुस्तित्यादिः

कालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति, भिन्नकार्त्तु
तद्वत्किम्मान्यशब्दवदित्यादि ॥ ३४ ॥

अर्थ—काल आदि के भेद से शब्द के वाच्य अर्थ में भेद मानने वाला अभिप्राय शब्दनयभाष्य है ॥

जैसे—सुमेरु था, सुमेरु है और सुमेरु होगा इत्यादि भिन्न कालवाचक शब्द सर्वथा भिन्न पदार्थों का कथन करने हैं, क्योंकि वे भिन्न कालवाचक शब्द हैं, जैसा भिन्न पदार्थों का कथन करने वाला हमारे भिन्नकालीन शब्द अर्थात् अगच्छन्, भविष्यन् और पतन् आदि ॥

विशेषण—काल का भेद होने से पर्याय का भेद होना है फिर भी द्रव्य एक वस्तु बना रहता है । शब्द नये पर्याय-वाचक वाला है यद्यः वह भिन्न भिन्न पर्यायों को ही स्वीकार करता है, द्रव्य को गौण करके उसकी उपेक्षा करता है । परन्तु शब्दजन्याभास विभिन्न कालों में अनुगत होने वाले द्रव्य का सर्वथा निषेध करता है । इसीलिए यह नवभास है ।

समभिरुद्ध नव

पर्यायशब्देण निरुक्तिभेदेन भिन्नमयं समभिरुद्धं
समभिरुद्धः ॥ ३६ ॥

इन्द्रनादिन्द्रः, शङ्खनाच्छङ्कः, पृथ्विराद् पृथ्वी इत्या-
दिषु यथा ॥ ३७ ॥

अर्थ पर्यायवाचक शब्दों में निरुक्ति के भेद से अर्थ का भेद मानने वाला समभिरुद्ध नव कहलाता है ॥

जैसे—घेरबर्ष भोगने वाला इन्द्र है, सामर्थ्य वाला शङ्ख है और शत्रु-नाश करने वाला पृथ्वी, कहलाता है ॥

विशेषण—शब्दनय काल आदि के भेद से पदार्थ में भेद मानता है पर समभिरुद्ध उससे एक कदम आगे बढ़कर काल आदि

का भेद न होने पर भी केवल पर्याय-वाची शब्दों के भेद में ही पर
में भेद मान लेता है ।

इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्द-तीनों एक इन्द्र के वाचक
किन्तु समभिन्न नय इन शब्दों की व्युत्पत्ति के भेद पर दृष्टि गीत
है और कहता है कि जब तीनों शब्दों की व्युत्पत्ति पृथक्-पृथक् है तब
तीनों शब्दों का वाच्य पदार्थ एक कैसे हो सकता है ? अतः पर्याय
वाची शब्द के भेद में अथ से भेद मानना चाहिये ।

इस प्रकार समभिन्न नय अर्थ सम्बन्धी अभेद को नि
कारके पर्याय भेद में अर्थ में भेद स्वीकार करना है ।

समभिन्न नयभाष्य

पर्यायव्यतीनामभिधेयनानान्वयमेव कर्त्तव्यमिति
भाष्यः ॥ ३८ ॥

यथा इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा विभक्ति
धेया एव, मिश्रशब्दान्वात्, करिदुग्धतुल्यवदित्यादिः ॥ ३९ ॥

अर्थ—एकान्वय रूप में पर्याय वाचक शब्दों के वाच्य का
में भेद मानने वाला अभिप्राय समभिन्न नयभाष्य में है ॥

टीका—इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि एक ही विभक्ति वाचक
के वाचक हैं । क्योंकि वे विभक्ति शब्द हैं, जैसे की (१००)
द्वय (द्वय) और तुल्य (तुल्य) ३९ ॥

निर्णय—समभिन्न नय पर्याय भेद में अर्थ में भेद स्वीकार
करना है पर अभेद का निर्णय नहीं करना, इसे केवल हीन कह देना

। समभिरुद् नयाभास पर्यायवाचक शब्दों के अर्थ में रहने वाले
 शब्द का निषेध करके एकान्त भेद का ही समर्थन करता है। इस-
 विरुद्ध नयाभास है।

एवंभूत नय

शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाऽऽविष्टमर्थं वाच्य-

तेनाम्पुषगच्छमेवंभूतः ॥ ४० ॥

यथा-इन्दनमनुभवमिन्द्रः शकनक्रियापरिणतः शक्रः,

परिणतप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यते ॥ ४१ ॥

अर्थ—शब्द की प्रवृत्ति की निमित्त रूप क्रिया में युक्त पदार्थ
 में उस शब्द का वाच्य मानने वाला नय एवंभूत नय है ॥

जैसे—इन्दन (तापय-भोग) रूप क्रिया के होने पर ही
 इन्द्र कहा जा सकता है, शकन (सामर्थ्य) रूप क्रिया के होने पर
 ही शक्र कहा जा सकता है और पुराण (३ यु नगर का नगर)
 रूप क्रिया के होने पर ही पुरन्दर कहा जा सकता है।

विशेष—एवंभूत नय वह निश्चय है जिसके अनुसार
 विशेष शब्द क्रियाशब्द ही है। वाचक शब्द में किसी न किसी क्रिया
 का अर्थ प्रकट होता है। तभी अवाधा में, जिस शब्द में जिस क्रिया
 का भाव प्रकट होता हो, उस क्रिया में युक्त पदार्थ को उसी समय
 उस शब्द में कहा जा सकता है। जिस समय में वह क्रिया विद्यमान
 न हो उस समय उस क्रिया का सूचक शब्द प्रयुक्त नहीं किया जा
 सकता। और वाचक शब्द में पकाने की क्रिया का बोध होता
 अतएव जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को पका रहा हो तभी

पाचक कहा जा सकता है, अन्य समय में नहीं। यही मयान्द्र, इन्द्र और पुरन्दर शब्दों के उदाहरण में समझाया गया है। इस रीति-
कोण को एवंभूत नय कहते हैं।

एवंभूत नयमास

क्रियाभ्याविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिविपंस्तु तदा-
मासः ॥४२॥

यथा—विशिष्टनेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न पटशब्द-
वाच्यं, पटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्, पटदि-
त्यादिः ॥ ४३ ॥

अर्थ—क्रिया में रहित वस्तु को उस शब्द का वाच्य मानने
का निषेध करने वाला अभिप्राय एवंभूत नयमास है ॥

जैसे—विशेष प्रकार की घेष्टा में रहित पट नामक वस्तु
पट शब्द का वाच्य नहीं है क्योंकि वह पट शब्द को प्रतीक के
कारण रूप क्रिया में रहित है, जैसे पट—आदि ॥

विरोध—एवंभूत नय अनुक्त क्रिया में युक्त पदार्थ का ही
उस क्रिया-वाचक शब्द में अभिविहित बताया है, किन्तु मानने में जिस
दृष्टिकोण का निषेध नहीं बताया। जो दृष्टिकोण 'पटशब्द रूप में
क्रिया-युक्त पदार्थ को ही शब्द का वाच्य मानने के साथ, वह क्रिया
में रहित वस्तु का उस शब्द के वाच्य होने का निषेध बताया है जो
एवंभूत नयमास है। एवंभूत नयमास का दृष्टिकोण यह है कि
यदि पटशब्द क्रिया में होने पर भी पट को पट कहा जाए तो वह
शब्द वस्तुओं को जो पट पट देना अभिविहित न होगा। फिर भी

भी पदार्थ किसी भी शब्द में कहा जा सकेगा। इस अव्यवस्था का निवारण करने के लिए यही मानना उचित है। इसी शब्द में जिस क्रिया का मान हो उस क्रिया का जिस मान में ही उस शब्द का प्रयोग किया जाय। अन्य मन्त्रों में उस शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

अर्थनय और शब्दनय का विभाग

एतेषु चत्वारः प्रथमैर्यनिर्मुपगप्रवर्गन्शदर्थनयाः ॥४४॥

शेषास्तु त्रय शब्दवाच्यार्थगोचरतया शब्दनयाः ॥४५॥

अर्थ—इन मातों ज्यों में पहले ४ चार नय पदार्थ का निरूपण करन वाले हैं इसलिये वे अर्थनय हैं ॥

अन्तिम तीन नय शब्द के वाच्य अर्थ को विषय करने वाले हैं इस कारण उन्हीं शब्दों का नय है ॥

त्रिवेचन—जैतम, मयह, मयवर्ग और अजगूद पदार्थ का प्रस्तुत करने हैं इसलिये उन्हीं अर्थनय कहा गया है और शब्द, मय-मिहद और एषभूत—यह तीन नय कि उन शब्द का वाच्य क्या होता है—यह निरूपण करते हैं, इसलिये यह शब्द नय कहलाते हैं।

ज्यों के विषय में अक्षरबुद्ध

पूर्वो पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः, परः परस्तु परिमित-विषयः ॥ ४६ ॥

अर्थ—प्राग ज्यों में पहले-पहले के नय अधिक-अधिक विषय वाले हैं और पिछले-पिछले कम विषय वाले हैं।

विवेचन—मानों नयों के विषय की न्यूनाधिकता यहाँ सामान्य रूप में धनाई गई है। पहले वाला नय विशाल विषय वाला और पीछे का नय संक्षिप्त विषय वाला है। नात्पर्य यह है कि नैगम नय मद्रमे विशाल दृष्टिकोण है। फिर उत्तमेनर दृष्टिकोणों में सूक्ष्मता आती गई है। विशेष विवरण सूत्रकार ने स्वयं दिया है।

अल्पबहुत्व का स्पष्टीकरण

सन्मात्रगोचरात् संग्रहान्नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद्
भूमविषयः ॥ ४७ ॥

सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तमन्ममू-
पदर्शकत्वात् बहुविषयः ॥ ४८ ॥

वर्तमानविषयादनुसूत्राद् व्यवहारत्रिकालविषयावल-
म्बित्वादनल्पार्थः ॥ ४९ ॥

कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दाद्-अनुसूत्रम-
द्विपरीतवेदकत्वान्महार्थः ॥ ५० ॥

प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दम-
द्विपर्यायानुपायित्वात् प्रभूतविषयः ॥ ५१ ॥

प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवंभूतात् समभि-
रूढस्तदन्यथार्थस्थापकत्वान्महागोचरः ॥ ५२ ॥

अर्थ—मिर्ह मत्ता को विषय करने वाले मद्रमनय की अपेक्षा मत्ता और अमत्ता को विषय करने वाला नैगम नय अधिक

पदार्थ को भिन्न मान लेता है। इस प्रकार नय क्रमशः सूक्ष्मता और बढ़ते हैं और एवंभूतनय सूक्ष्मता की परीक्षा कर देता है।

नयमत्तमंगी

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाम्ना
सप्तमंगीमनुव्रजति ॥ ५३ ॥

अर्थ—नय-वाक्य भी अपने विषय में प्रवृत्ति करना हुआ विधि और निषेध की विवक्षा में सप्तमंगी को प्राप्त होता है।

विवेचन—विकलादेश, नयवाक्य कहलाता है। उसका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। जैसे विधि और निषेध की विवक्षा से प्रमाण-सप्तमंगी बनती है उसी प्रकार नय की भी सप्तमंगी बनती है। नय-सप्तमंगी में भी 'स्यान्' पद और 'एव' लगाया जाता है। प्रमाण-सप्तमंगी सम्पूर्ण वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करती है और नय-सप्तमंगी वस्तु के एक अंश को प्रकाशित करती है। यही दोनों में अन्तर है।

नय का फल

प्रमाणवदस्य फलं व्यवस्थापनीयम् ॥५४॥ ॐ

अर्थ—प्रमाण के समान नय के फल की व्यवस्था करना चाहिए।

विवेचन—प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति होना बताया गया है, वही फल नय का भी है। किन्तु प्रमाण से वस्तु सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होती है और नय से वस्तु के

पदार्थ को भिन्न मान लेता है। इस प्रकार नय क्रमशः सूक्ष्मता की ओर बढ़ते हैं और एवम्भूतनय सूक्ष्मता की परीक्षा कर देता है।

नयसप्तमंगी

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्त्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां-
सप्तमंगीमनुव्रजति ॥ ५३ ॥

अर्थ—नय-वाक्य भी अपने विषय में प्रवृत्ति करना इस विधि और निषेध की विवक्षा में सप्तमंगी को प्राप्त होता है।

विवेचन—विकल्पादेश, नयवाक्य कहलाता है। उसका म रूप पहले बताया जा चुका है। जैसे विधि और निषेध की विवक्षा से प्रमाण-सप्तमंगी बनती है उसी प्रकार नय की भी सप्तमंगी बनती है। नय-सप्तमंगी में भी 'स्यान्' पद और 'एव' लगाश ज्ञात है। प्रमाण-सप्तमंगी सम्पूर्ण वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करती है और नय-सप्तमंगी वस्तु के एक अंश को प्रकाशित करती है। यही दोनों में अन्तर है।

नय का फल

प्रमाणवदस्य फलं व्यवस्थापनीयम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—प्रमाण के समान नय के फल की व्यवस्था करना चाहिये।

विवेचन—प्रमाण का मातान् फल अज्ञान की निवृत्ति होना बताया गया है, वही फल नय का भी है। किन्तु प्रमाण में वस्तु सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होती है और नय से वस्तु के अंश-

नवी अज्ञान की निवृत्ति होती है । इसी प्रकार वस्तु के अश-विषयक उपादानबुद्धि, हानबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि नय का परोक्षफल समझना चाहिए ।

दोनों प्रकार का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न कथंचित् अभिन्न है, इसी प्रकार नय का फल नय से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है ।

प्रमाता का स्वरूप

प्रमाता प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा ॥ ५५ ॥ ॥—

चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्त्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेह-
परिमाणः प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पादुगलिकादृष्टवांशायम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध आत्मा प्रमाता कहलाता है ॥

आत्मा चैतन्यमय है, परिणामनशील है, वर्गों का कर्त्ता है, कर्मफल का साक्षान् भोक्ता है, अपने प्राप्त शरीर के बराबर है, प्रत्येक शरीर में भिन्न है और पादुगलरूप अदृष्ट (कर्म) वाला है ।

विवेचन—आर्वाक लोग आत्मा नहीं मानते । उनके मन का स्पष्टन करने के लिए यहाँ यह बताया गया है कि आत्मा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण से सिद्ध है । 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार स्वर्गवेदन प्रत्यक्ष आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है । तथा 'रूप आदि के ज्ञान का कोई कर्त्ता अवश्य है, क्योंकि वह क्रिया है, जो क्रिया होती है, उसका कोई कर्त्ता अवश्य होता है, जैसे काटने की क्रिया । जानने की क्रिया का जो कर्त्ता है वही आत्मा है । इस प्रकार

पदार्थ को भिन्न मान लेता है। इस प्रकार नय क्रमशः मूढ़ता को और बढ़ते हैं और पर्यभूतनय मूढ़ता की पराकाष्ठा कर देता है।

नयसत्तमंगी

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाम्या-
सत्तमंगीमनुव्रजति ॥ ५३ ॥

अर्थ—नय-वाक्य भी अपने विषय में प्रवृत्ति करना हुआ विधि और निषेध की विद्यता से सत्तमंगी को प्राप्त होता है।

विवेचन—विकल्पादेश, नयवाक्य कहलाना है। उसका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। जैसे विधि और निषेध की विवक्षा से प्रमाण-सत्तमंगी बनती है उसी प्रकार नय की भी सत्तमंगी बनती है। नय-सत्तमंगी में भी 'स्यान्' पद और 'एव' लगाया जाता है। प्रमाण-सत्तमंगी सम्पूर्ण वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करती है और नय-सत्तमंगी वस्तु के एक अंश को प्रकाशित करती है। यही दोनों में अन्तर है।

नय का फल

प्रमाणवदस्य फलं व्यवस्थापनीयम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—प्रमाण के समान नय के फल की व्यवस्था करना चाहिये।

विवेचन—प्रमाण का सात्त्विक फल अज्ञान की निवृत्ति होना बताया गया है, वही फल नय का भी है। किन्तु प्रमाण में वस्तु सम्यग्धी अज्ञान की निवृत्ति होती है और नय से वस्तु के

अष्टम परिच्छेद

वाद का निरूपण



वाद का अर्थ

विरुद्धोपर्यधर्मोपारेकधर्मव्यवच्छेदेन स्वीकृतद्वन्द्वधर्म-
व्यवस्थापनार्थं माधनदूषणवचनं वादः ॥ १ ॥

अर्थ—परस्पर विरोधी दो धर्मों में से, एक व करके अपने मान्य दूसरे धर्म की मिद्धि के लिए माधन और दूषण का प्रयोग करना वाद है।

विवेचन—आत्मा की मर्त्यता नित्यता और कर्थाचिन नित्यता ये दो विरोधी धर्म हैं। इनमें से किसी भी एक धर्म को स्वीकार करके, और दूसरे धर्म का निषेध करके, वादी और प्रनिवादी अपने पक्ष को साधन के लिए और विरोधी पक्ष को दूषित करने के लिए जो वचन-प्रयोग करते हैं वह वाद कहलाना है। वादी को अपने पक्ष की मिद्धि और पर पक्ष का निराकरण—दोनों करने पड़ते हैं और इसी प्रकार प्रनिवादी को भी दोनों ही कार्य करने पड़ते हैं।

वादी-प्रारम्भक के नेद

प्रारम्भकधात्र जिगीषुः, तत्त्वनिर्णिनीषुश्च ॥ २

बाद भेद ही होते हैं। प्रारम्भिक वा किस प्रत्यात्मिक के साथ बाद होता है और किसके साथ नहीं, यह हम नकरो से स्पष्ट ज्ञान होगा :-

प्रारम्भिक	प्रत्यात्मिक				
	द्विगोपु	स्वा. त. नि.	त. त. नि. बायो	प. स. दि. केंवर्मी	सम्भव संख्या
द्विगोपु	हो सकता है	०	हो सकता है	हो सकता है	३
स्वा० तत्त्वविभिन्नोपु	०	०	"	"	५
त. बायोपरात्मिकज्ञानी	हो सकता है	हो सकता है	"	"	४
प. स. केंवली	"	"	"	०	३
सम्भव संख्या	३	३	४	३	१३

अंग-नियम

तत्र प्रथमे प्रथमवर्तीयतुगीयाणां चतुरङ्ग एव, अन्यत-
मस्याप्यपाये जयपराजयव्यवस्थादिदोःस्थ्यापत्तेः ॥ १० ॥

अर्थ—पूर्वोक्त चार प्रारम्भों में में पहले त्रिगीषु के होने पर त्रिगीषु, परत्रतत्त्वनिर्णिनीषु क्षायोपशमिकज्ञानी और केवली प्रत्या-
रम्भक का बाद चतुरंग होता है । किसी भी एक अङ्ग के अभाव में जय-पराजय की ठीक व्यवस्था नहीं हो सकती ।

विवेचन—वादी, प्रनिवादी, मध्य और सभापति, बाद के यह चार अङ्ग होते हैं । त्रिगीषुवादी के साथ उक्त तीन प्रनिवातियों का बाद हो तो चारों अंगों की आवश्यकता है ।

द्वितीये तृतीयस्य कदाचिद् द्व्यङ्गः, कदाचिद् त्र्यङ्गः ॥ ११ ॥

अर्थ—दुमरे वादी—स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु का तीसरे प्रनि-
वादी—क्षायोपशमिकज्ञानी परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु का बाद कभी २
अङ्ग वाला और कभी तीन अङ्ग वाला होता है ।

विवेचन—स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु जय-पराजय की उच्छा-
मे बाद में प्रवृत्त नहीं होता, अतः उसके साथ परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु
क्षायोपशमिकज्ञानी का बाद होने पर मध्य और सभापति की आव-
श्यकता नहीं है, क्योंकि मध्य और सभापति जय-पराजय की व्यव-
स्था और कलङ्क आदि की शान्ति करने के लिए होते हैं । अतएव
जब क्षायोपशमिकज्ञानी परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु तत्त्व का निर्णय न कर
सके तो दोनों को मध्यों की आवश्यकता होती है । इसीलिये कभी दो
अंग वाला और कभी तीन अङ्ग वाला बाद बनलाया गया है ।

बाही-प्रतिवाही का कथन

प्रारम्भरूपप्रत्यारम्भकारेव मध्यप्रतिमध्वन्यायेन वादि-
प्रतिवादिनी ॥ १६ ॥

अर्थ—मध्य और प्रतिमध्य की मूर्ति प्रारम्भक और प्रत्य-
रम्भक क्रम से बाही और प्रतिवाही कहलाते हैं ।

बाही-प्रतिवाही का कर्मण

{ प्रमाणतः मध्यस्थायनप्रतिपक्षप्रतिषेधानयोः कर्म ॥

अर्थ—प्रमाण में अपने पक्ष की स्थापना करना और विरोधी
पक्ष का शङ्कन करना बाही और प्रतिवाही का कर्मण है ।

विशेषण—केवल अपने पक्ष की स्थापना कर देने में या
केवल विरोधी पक्ष का शङ्कन कर देने में तर्क का निर्माण नहीं
होता । अतः तर्कनिर्माण के लिए दोनों की दोनों कार्य करना जरूरी ।

मन्त्रों का कथन

वादिप्रतिवादिमिद्वान्तन्मन्त्रदीप्ताय-ध्याया वादुभय

प्रतिवा-वादि-माध्यम्यमयाविमयाः मन्त्राः ॥ १८ ॥

अर्थ—दो बाही और प्रतिवाही के मिद्वान्त मन्त्रों के द्वारा
दो मन्त्रा, वादुभय, प्रतिवा, मन्त्र और माध्यम्यमया में कुछ ही
मन्त्र बाही और प्रतिवाही द्वारा ही बना दिये जाते हैं, ऐसे मिद्वान्त
मन्त्र होते हैं ।

अर्थ—वादी, प्रतिवादी और मध्यों के कथन का निष्पन्न करना, तथा कलह मिटाना आदि समापन के कर्तव्य हैं।

विवेचन—वादी-प्रतिवादी और मध्यों के कथन का निष्पन्न करना तथा वादी और प्रतिवादी में अगर कोई शर्त हुई हो तो उसे पूर्ण कराना अथवा वारितोपेक्ष विवरण करना समापन का कर्तव्य है।

वादी-प्रतिवादी के बोलने का नियम

सत्रिगीषुकेऽस्मिन् यावन्मध्यापेयं स्फूर्त्वां वक्तव्यम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जब त्रिगीषु का त्रिगीषु के साथ वाद हो तो विराम होने पर जब तक मध्य आएँ तब तक बोलने रहना चाहिये।

विवेचन—जब तक वादी प्रतिवादी में से कोई एक समापन और पक्षस्त दूषण करने में असमर्थ नहीं होता तब तक किसी विषय का निर्णय नहीं होना। इस अवस्था में वादी-प्रतिवादी को अपना अपना वक्तव्य बोलूँ रहना चाहिये। जब मध्य बोलने का नियम करदे तब बंद कर देना चाहिये। यह त्रिगीषु-वाद के विषय है।

उपयोम्यन्निर्णिनीषुर्वा यावत्तन्निर्णयं यावत्स्फूर्त्वां वक्तव्यम् ॥ २३ ॥

अर्थ—दोनों-वादी प्रतिवादी यदि तन्निर्णिनीषु हो तो तब तक निर्णय होने तक बोलने बोलना चाहिये। अगर तन्निर्णय न हो तो फिर वादी या प्रतिवादी को आगे बोलना न मूल्य रहे तो जब तब तक बोलना चाहिये।

७ । “इतरथापि संवेदनान्” ; “विधिमात्रादिप्रधानतयापि तस्य प्रमिद्धेः” ; “तद्विपरीतस्तु विकलादेशः”—एषां सूत्राणां मन्त्रनि-
प्रदर्शनपूर्वकं व्याख्यानं कुर्वन्तु श्रीमन्तः ।

८ । “यन् प्रमाणेन प्रमाध्यते तदस्य फलम्” ; “प्रमातुर्गपि स्वपरव्यवभितिक्रियायाः फलसिद्धेदः”—अनयोः सूत्रयोः मन्त्रनि-
प्रदर्श्य व्याख्यानं कार्यम् ।

९ । व्याप्तेः तर्कामामस्य च लक्षणमुद्धृत्य व्याख्यायताम् ।

१० । प्रत्यभिज्ञान-सूत्रयोश्च लक्षणं प्रदर्श्य मोक्षलक्षणं व्याक्रियताम् ।

सन् १६४ ?

पूर्णमंग्या—१०० । समयः १२-४ ।

[सर्वे प्रश्नाः समानमीतार्हाः । पञ्चम्य प्रश्नाः समाधानाभ्याः ।]

१ । स्वाभिमतप्रमाणयोर्द्वयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोः तया हि
अन्येषां प्रमाणानाम् अन्तर्भावः सा रीतिः प्रदर्शनीया ।

२ । श्रवायः ; व्यपदेशः ; अनवगतिवमन्त्रः ; विद्वद्व-
वेद्यवज्ञानम् ; त्रिसङ्गच्छतिः ; प्रमिद्धो धर्मो, इत्येषां पदानां
लक्षणशब्दादिभिरूपाणि समुद्भिद्य व्याख्यायन्ताम् ।

३ । सादृश्य-शक्ति-स्पर्श-अभाषानां स्वप्ने कस्मिन् कदा
अन्तर्भावः ? तद् विवक्षित्वा होदयम् ।

